दुष्यन्त कुमार

रचनावली 2

संपादक

विजय बहादुर सिंह

दुष्यन्त कुमार रचनावली

चार खंडों में समग्र रचना-संसार

दूसरा खंड

काव्य-नाटक, काव्य-संग्रह, ग़ज़लें तथा
कुछ असंगृहीत कविताएँ

दुष्यन्त कुमार रचनावली

(दूसरा खंड)

काव्य-नाटक, काव्य-संग्रह, ग़ज़लें तथा
कुछ असंगृहीत कविताएँ

संपादक

विजय बहादुर सिंह

किताबघर प्रकाशन

नयी दिल्ली

दुष्यन्त कुमार रचनावली : दूसरा खंड

ISBN—81-7016-733-7 (चार खंड)
81-7016-735-3 (दूसरा खंड)

प्रकाशक
किताबघर प्रकाशन
4855-56/24, अंसारी रोड, दरियागंज
नयी दिल्ली-110002

प्रथम संस्करण
27 सितंबर, 2005

आवरण
हरचन्दन सिंह भट्टी

मूल्य
एक हज़ार नौ सौ पचास रुपये (चार खंड)

मुद्रक
बी०के० ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

DUSHYANT KUMAR RACHANAVALI : 2 (Hindi)
Ed. *by* Vijay Bahadur Singh
Price : Rs. 1950.00 (Four Volumes)

प्रस्तावना

इस खंड में कवि की उत्तरवर्ती कृतियाँ—'एक कंठ विषपायी' (1963), 'जलते हुए वन का वसंत' (1973) और 'साये में धूप' (1975) की ग़ज़लें शामिल हैं। अंत में पत्र-खंड भी जोड़ दिया गया है, जिससे कवि के जीवन, प्रेरणा-संदर्भ और साहित्यिक संघर्षों का जायज़ा भी एक साथ लिया जा सके।

कवि दुष्यन्त का भोपाल आवास कई-कई रचनात्मक दृष्टियों से उल्लेखनीय और महत्त्वपूर्ण कहा जा सकता है। एक ओर नैसर्गिक सुषमा लिए झील और पहाड़, दूसरी ओर नई बसती राजधानी, तीसरी ओर उर्दू के शायर और उनकी शायरी, चौथी ओर हिंदी के कथाकार रमेश बक्षी, व्यंग्य-स्रष्टा शरद जोशी, बाद में आकर जुड़ने वाले कथाकार शानी, आलोचक धनंजय वर्मा—दुष्यन्त जैसे किसी भरे-पूरे, लंबे-चौड़े परिवार में आ गए हों जो सिर्फ़ आवाज़ों की शोर का नहीं, उनकी रोमानी गुनगुनाहटों और उत्तेजनाकारी गुर्राहटों का भी शहर हो।

भाषा विभाग के सहायक संचालक कवि दुष्यन्त कुमार ने इसी सन् 1963 में 'अंधायुग' के बाद का आधुनिक हिंदी का दूसरा काव्य नाटक 'एक कंठ विषपायी' लिखा। ये वो आदमी था जो अपने कमरे में दुष्यन्त और शकुन्तला के कैलेंडर पर निग़ाह टिकाए छोटे भाई मुन्नू जी (प्रोफ़ेसर प्रेमनारायण त्यागी) के सवाल के जवाब में उनके बचपन में कहा करता था, 'वो तो मैं हूँ जो दुष्यन्त है।' यही वह आदमी था जो विजयदशमी के दिन अपने परिवार सहित 'राम की शक्तिपूजा' (निराला) का संपूर्ण पाठ किया करता था। वही अब विषपायी 'शिव' के कालजयी जातीय बिंब के पास पहुँचकर अपने गुस्से और प्रतिकार में शिव ही नहीं, सर्वहत भी बन गया था। 'अंधायुग' के अश्वत्थामा की तरह घृणा और प्रतिहिंसा से चलकर जो आत्मघाती विक्षोभ तक पहुँचने और उसे मनुष्य की नियति मान लेने को तैयार नहीं था। जिसका यह दृढ़ विश्वास था कि मनुष्य की असली पहचान नियति या व्यवस्था के सम्मुख पराजय मान लेने में नहीं, उसके विरुद्ध प्रश्न खड़ा करने, लोहा लेने और बदलने में है। 'अंधायुग' में परात्पर ब्रह्म की सत्ता को पुनर्स्थापित किया गया है। संशय, भविष्यहीनता और अंधकार की भयावह और अपरिमित ताक़तों का भाव-प्रसार किया गया है। विपरीत इसके 'एक कंठ विषपायी' में सर्वहत जैसे चरित्रों

के माध्यम से समस्त दैवी-विधान और देव वर्ग के अन्याय, शोषण, उसकी नृशंसता और दंभ को उजागर कर घेरने की कोशिश की गई है। राजधानी भोपाल की ये दैव-शक्तियाँ कौन-सी रही होंगी जो दुष्यन्त को इस काव्य-नाटक तक ले आई होंगी ? राजधानियाँ क्या सचमुच इतनी ही अभिशप्त होती हैं ?

नाटक की कथा के सूत्र तो कवि को अनन्तमराल शास्त्री से मिले थे, किंतु दुष्यन्त ने उसे जिस स्तर पर ग्रहण किया और रचा है उससे जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नए मूल्यों को संकेतित करने की संभावनाओं के कई गवाक्ष खुल सके हैं। परंपरा और प्रतिभा के रिश्ते कितने द्वंद्वपूर्ण और सार्थक हो सकते हैं, इसे यहाँ अनुभव किया जा सकता है। परंपरा कोई आँख मूँदकर पूजने या फिर कठमुल्ली प्रगतिशीलता में नकार देने की चीज़ नहीं है। प्रत्येक नई प्रतिभा उससे हमेशा एक सृजनात्मक द्वंद्व-समर रचती है।

आकाशवाणी की सेवा में स्क्रिप्ट राइटर के रूप में कवि ने रूपक-लेख का यथेष्ट अनुभव प्राप्त कर लिया था। संवादों की तकनीक और कथा-शिल्प के उस अनुभव ने दुष्यन्त की यहाँ काफ़ी मदद की है।

कहानी तो वही अतिख्यात और जानी-पहचानी है। दक्ष कन्या सती अपने पति शिव के अपमान का बदला लेने के लिए पिता के यज्ञकुंड में जाकर आत्मदाह कर लेती है। शोकग्रस्त शिव विक्षुब्ध होकर जिस प्रतिशोध तक जाते हैं उससे उनके कंधे पर सड़ रहा प्रिया का शव समूचे ब्रह्मांड को सड़ाँध, दुर्गंध से भर देता है। इंद्र और उनका देवलोक आत्मरक्षा में व्याकुल होकर युद्धातुर हो उठता है। तभी तो सर्वहत का आविर्भाव होता है, जो कहता है—'चाहे वह दक्षलोक हो या देवलोक, साधारण लोगों को कहीं भी न्याय नहीं मिलता।'

कृति में इंद्र और विष्णु का जो वार्तालाप है उसमें इंद्र विष्णु से जिज्ञासा करते हैं—

क्या शिव में संक्रमण काल का
विष पीने की शक्ति नहीं है ?
क्या वे यों ही नीलकंठ हैं ?

सोचना पड़ता है, यह संक्रमण काल चीन और भारत के बीच हुए युद्ध की काली छायाओं की चपेट में आ गए नेहरू शासन का है या कवि दुष्यन्त के उन काव्य-मूल्यों का है अथवा यह उस बीसवीं सदी का है जिसे यह देश जी रहा था। संक्रमण आख़िर किसका था ? संक्रमण का यह ज़हर क्या था ? कहीं यह लोकतंत्र की छाती पर चढ़े बैठे जाते उस सामंतवाद और पूँजीवाद का तो नहीं था जिसे दुष्यंत और उनके साथी विष की

तरह पीए जा रहे थे।

नाटक में दुष्यन्त की पक्षधरता का स्वर कुछ अधिक ही तीखा और कठोर हो गया है। विचारों की मुखरता बढ़ गई है। कोमल रोमानी आवेग पृष्ठभूमि में चले गए हैं। शब्दों की सहज मधुरता और लयात्मक सरसता अकस्मात् जैसे किसी चट्टानी कठोरता में बदल गई हो और कवि दुष्यन्त और उनकी कविता ख़ुद विषपायी हों।

कविता में नाट्य-सृजन को रम्य मानने वाली परंपरा में दुष्यन्त ने विचारों का जो तीखा लावण्य पैदा किया था उससे नाट्य-लेखन ही नहीं नाट्य-मंच भी रौद्र हो उठे। एक खड्गहस्त योद्धा की तरह दुष्यन्त यहाँ अपनी कलम के साथ हैं। वे जितने रफ और टफ यहाँ दिखते हैं उससे उनके मूड का अनुमान किया जा सकता है। संवेदनाओं की कोमलता और मधुरता ही काव्य-सत्य नहीं है, उनकी रोज़-रोज़ मार खाती विश्वसनीयता और विकलता से भरी छटपटाहट और पैदा हुआ विक्षोभ भी सच है। कभी-कभी ऐसा वक़्त आता है जब लेखक को 'कवि-विवेक' दरकिनार कर 'सत्य कहहुँ लिखि कागद कोरे' का पक्ष लेना पड़ता है। यदि यह आपद्धर्म आ ही पड़े तो दुष्यन्त जैसे रचनाकार काव्य-सत्य का ही वरण करते देखे गए।

संभवतः यही वह काल रहा होगा जब दुष्यन्त ने अपने गुस्से और क्षोभ को आग, अलाव, अँगीठी, अंगारा और लपटों की आँच के बिंबों में देखना शुरू किया होगा। विषपायी शिव की तरह उनके गुस्से का जो पारावार समुद्र हमें बाद में दिखाई पड़ता है, उसकी भूमिका यही रही होगी।

सन् 1964 की मई में प्रधानमंत्री नेहरू की मृत्यु, '67 में चुनाव के बाद सत्ता में आईं संविद सरकारें, इससे पूर्व का हिंसक और सत्तासेवी शासन, बाद का काला आपातकाल—इतिहास का वह दिशाहीन अँधेरा है, जहाँ हर कंधा भरोसा देता हुआ बेभरोसे का हो उठा है। हर उम्मीद नाउम्मीद में बदलती चली गई है। 'जलते हुए वन का वसंत', जो दुष्यन्त का चौथा महत्त्वपूर्ण सृजन है, ऐसे ही अनिर्णय, विश्वासशून्यता और व्याकुल चेतना के आत्मदीप्त उजाले में रचा गया होगा।

दुष्यन्त अब तक अपनी प्रतिभा की धाक जमा चुके थे। साहित्य के सजग पाठकों के मन में वे एक ऐसे गंभीर और ज़िम्मेदार लेखक के रूप में उतर चुके थे जो रूढ़ वैचारिकता या विचारधारागत संकीर्णता और सांप्रदायिकता के कटघरे में नहीं अँटता। कोई भी अभिव्यंजना-प्रणाली जिसे अपना ग़ुलाम बनाकर नहीं रख पाती। कोई भी काव्य-शिल्प जिसकी निर्णायक हदें तय करने की सुविधा में नहीं आ पाता। दुष्यन्त की रचनाशीलता में इस प्रकार की वर्जनाएँ और प्रतिबंध नहीं थे। वे एक ऐसे आत्मसजग और स्वाधीन स्रष्टा थे, जिनकी प्रेरणा का नाभिकेंद्र वह लोकमानस था, जो अतिबौद्धिक नीरस काव्यवाद

से ऊबकर और निराश होकर उससे दूर जा चुका था। कवि दुष्यन्त के लिए यह एक बहुत बड़ी चुनौती थी।

उनका कवि-जीवन भी वैसा नहीं था जैसा आम और औसत लेखकों और कवियों का हुआ करता है, उनके रंग-ढंग और जगज़ाहिर कारनामों की याद करें तो इस दुष्यन्त और उस कवि दुष्यन्त में शायद ही कोई पुल नज़र आए। उनकी अनथक दिखती ऊर्जा साहित्य और अन्य संस्कृति कर्मों के दायरों को लाँघती हुई घर-परिवार के रूढ़ रिश्तों से परे, यारों की महफ़िली दुनिया में अपनी विलक्षण उपस्थिति का उत्तेजक रोमांच पैदा किया करती थी। ज़िंदादिली, यारबाशी, स्थितियों पर क़ाबू पा लेने वाली हौसलामंदी और चुनौतियों से आँखें चार करने वाली वो जानी-परखी मर्दानगी कुछ ऐसी थीं, जो अतिकाल्पनिक मुंबइया फ़िल्मी नायकों की याद दिलाती है। उनका जीवन इस दृष्टि से उस अतियथार्थ का नमूना था, जिसमें नमक के बराबर कल्पना सच की भारी और गहरी छुअन से बेहद ज़ायक़ेदार हो उठा करती है।

अपनी सर्वातिशायी ताक़तों में वे सचमुच विरल थे। साहित्य की थकान मिटाने वे जहाँ-जहाँ जिन-जिन साहित्य-विरोधी अड्डों की ओर नियमतः आया-जाया करते थे, जहाँ से लौटकर उनकी ताज़गी और अनुभवों की चमक दुगुनी हो उठा करती थी। वे भोपाल-प्रवास के ही दिन थे जब बहुत जल्दी-जल्दी सत्ताएँ आईं और गईं। वफ़ादारियाँ घटी-बढ़ीं, शुरू होते-होते ख़त्म हो गई। विश्वास बने और टूटे, दोस्तियाँ आईं और दुश्मनियों में तब्दील हो गईं। दुष्यन्त सत्ता के चंगुल में फँसे और निलंबित हुए। दूसरी सत्ता आई और बहाल हुए। इन्हीं दिनों उन्होंने 'छोटे-छोटे सवाल' और 'आँगन में एक वृक्ष' जैसे उपन्यास लिखे। यह भी समझ में आया कि 'आराधन' का उत्तर 'दृढ़ आराधन' से ही दिया जा सकता है अन्यथा यह जीवन, घर-गृहस्थी सब इसी अमानुषिक व्यवस्था और कुटिल राजनीति के चक्रव्यूह में समाप्त हो जाएँगे। फिर भी कवि की चेतना को अनुभवों के जिस विशाल और अपार जनजीवन से अपना आलोक अर्जित करना है, उसे प्रत्येक स्थिति में अपराभूत और अपराजेय बने रहना है।

राजधानी भोपाल और प्रदेश शासन की ठीक नाक के नीचे रहने वाले दुष्यन्त ने उसी शासन के ख़िलाफ़ अपनी आवाज़ बुलंद करनी शुरू की जो अप्रत्याशित रूप से क्रूर और हिंसक हो उठा था। जो कविताएँ इन दिनों लिखी जा रही थीं वे बाद में 'जलते हुए वन का वसंत' में सन् '73 में संगृहीत होकर हिंदी पाठकों तक पहुँचीं। प्रेमचंद की तरह दुष्यन्त ने फिर यह साबित कर दिखाया कि ख़तरे मोल लेने के अवसर प्रायोजित नहीं हुआ करते, वे तभी लिए जाने चाहिए जब सामने हों। वे तो ज्वालामुखी की तरह धुँधुआने और आग के गोलों की तरह दगने लगे थे। उन्हें इस बात की गहरी तकलीफ़

थी कि अपने को अतिबुद्धिजीवी और प्रकृष्ट रचनाकार मानने वाले लोग अपनी-अपनी परिस्थितियों से बचकर पूर्वनियोजित और बनी-बनाई कल्पनाओं के मठों और आश्रमों की ओर चले गए हैं। साहित्य में आते चले गए इस संघर्षविमुख नवरीतिवाद को दुष्यन्त ने जान लिया था। सामाजिक जीवन में संवेदनों की शून्यता और रक्ताल्प काव्यभाषा की लाचारियों को वे देख पा रहे थे। इन सबके बावजूद वे एक डरे हुए आदमी नहीं थे। उलझे हुए जटिल कवि नहीं थे। आँखें साफ़ देख पा रही थीं और उनके कवि के इरादों की रीढ़ तनी हुई थी। ख़तरों से आँख मिलाने को अब वे पूरी तरह तैयार थे।

अपने समय की प्रत्यक्ष राजनीति, निकटस्थ सत्ता और साथ चलने वाले तरह-तरह के लोग, मरुस्थलों और चट्टानी इलाक़ों के, विकट अनुभवों के बावजूद मरुद्यानों और तरलताओं के रोमानी अनुभवों ने जो संसार उनके भीतर रचा उससे एक ऐसी कविता सामने आई जो बेबाक और दो टूक होकर भी नीरस और इकहरी नहीं थी। यह उस पेशेवर विद्रोही जनपक्षधर कविता से बिलकुल भिन्न थी, जिससे क्रांतिकारी नारों और विचारों का पद्यबद्धीकरण किया जाता है। इस मोड़ पर पहुँच दुष्यन्त की संवेदनात्मक तरलता बढ़ती जा रही थी और उनका कवि अपने अनुभवों के समर्पित इलाक़े में ज़्यादा से ज़्यादा निष्कवच होता जा रहा था। कविता का इस तरह निष्कवच होना सचमुच विस्मयपूर्ण और विलक्षण था। वह जीवन जो घिसा-पिटा है, वह समय जो अनुर्वर और कल्पनाशून्य है, वह कविता जो एक ख़ास तरह के ढर्रे और भाषा-की रीति में क़ैद है, दुष्यन्त अपने संग्रह में उसे तरह-तरह से चित्रित करते हैं :

कितने खुशकिस्मत थे पहले के ज़माने के कवि
अपनी परिस्थिति से बचकर आकाश ताक सकते थे
सच है—
हमारे लिए भी कल्पनाओं के आश्रम खुले हैं
किंतु
चौंकाती नहीं हैं दुर्घटनाएँ
कितना स्वीकार्य और सहज हो गया है परिवेश
कि सत्य
चाहे नंगा होकर आए, दिखता नहीं है।

इसी कविता में उन्होंने लिखा—'सबसे पहला रोगी और मुरदा, मैं खुद को पाता हूँ।' पर वे जानते थे कि उनकी कविता धीरे-धीरे उस मुक़ाबले के लिए तैयार हो रही है, जो होना है। वे यह भी अनुमान लगा चुके थे कि उनका यह सफ़र अब बेहद अकेला होगा

और उन्हें एक ऐसे कद्दावर योद्धा कवि के रूप में पेश आना होगा, जिसकी आँखें झुकती नहीं और घुटने कभी मुड़ते नहीं।

संग्रह में एक ओर ओसारों में बैठे बूढ़ों की बड़बड़ाहटों की तो दूसरी ओर नीम की कड़वी तल्ख़ी का स्वाद है। कवि की कल्पनाएँ इतनी नई, सटीक और यथार्थधर्मी हैं कि लगता है समूचा जीवन-परिवेश उसकी आँखों के सामने है, पर सबसे बड़ी बात यह कि उसकी भाषा प्रत्यक्ष राजनीतिक संकेतों से भरी हुई है और कविता के बिंब ताज़े और सटीक हैं।

वे हमें उन ठिकानों तक हाथ पकड़कर पहुँचा आते हैं, जिनसे आँख मिलाने में प्रत्यक्ष जीवन में हमें भय लगता है। बस्तर गोलीकांड से जुड़ी कविता में 'आदिवासी ईश्वर', सत्ता के लंबे नाखून, मुर्दा लोग भूखी साँसें, अभावों का शिरस्त्राण, राष्ट्रीयता के चिथड़े, दिन-ब-दिन दुबली होती जाती गाएँ, मोटा होता जाता आवारा बिजार, काँटेदार पहाड़ियाँ, चाकू और छुरे। पर इतना ही नहीं है, उम्मीद का वह बूढ़ा पीपल भी है, जिसके पास अब भी सुस्ताने लायक छाया बची हुई है, पर्वतों के पास झील के वे पलंग बचे हैं जहाँ शाम निढाल होकर जलतरंग बजाती है, यही वह रास्ता है जिस पर अभी भी कवि को चंद साये उभरते हुए दिखाई देते हैं। ये वो स्मृतियाँ हैं जो निःशेष और बेमानी नहीं हुई हैं। कवि ने अपनी इन्हीं स्मृतियों को इतिहास की तरह साक्षी बनाकर उन सारे लोगों को आवाज़ देने की पहल की है जो न तो एकदम से नाउम्मीद हुए हैं, न भविष्यहीन। ग़ौरतलब है कि वह संग्रह के अंतिम गीत में लिखता है—'थोड़ी-सी आँच और बची है अलाव में'। यही थोड़ी-सी आँच आगे लिखी ग़ज़लों में किस कदर लावा बनकर फूट पड़ी है, उसका वह अनुभव असामान्य है।

यह भी ध्यान देने की ज़रूरत है कि दुष्यन्त यहाँ दुबारा उस अर्थपूर्ण रोमानियत की ओर लौटते हैं, जिसमें यथार्थ के कड़वे और तीखे़ महासागर के ज़हरीलेपन के बावजूद आत्मीयता की मिठास और गंध है। अनुभवों का यह वह चेहरा है जो अपनी मधुरता और कोमलता में बेहद दमदार है। तमाम तरह की पठारी चुप्पी और अजनबियत के बीच वे हमेशा इसकी ताक़तवर मुस्कान का अनुभव करते रहे हैं। दुष्यन्त के जुझारू अनुभवों की पीठ पर रोमानियत का यह तरकश उनकी कविता की संजीवनी के अक्षय-कोष की तरह बँधा हुआ है। यथार्थ और रोमान जब तक मिलते नहीं, तब तक दुष्यन्त आधे-अधूरे और इकहरे लगते हैं। उन्हें अगर इसका इलहाम न होता तो वे शायद ही 'साये में धूप' की ग़ज़लों की ओर आते।

वे निरंतर यह सोचने में लगे थे कि कविता और समाज का रिश्ता क्योंकर और कैसे टूट गया है ? क्यों दोनों अलग-थलग पड़ गए हैं ? कविता क्यों संघर्ष और संवाद

का माध्यम नहीं रही ? छंद का जाना-पहचाना संगीत क्या बिलकुल निरर्थक और बेमानी हो गया है ? क्या सत्ता के तिलिस्म और मुखौटे की तरह कविता का भी अपना मुखौटा और तिलिस्म हुआ करता है ? अगर होता है तो इससे लड़ने और लड़कर तहस-नहस कर डालने के औज़ार कौन-से होंगे ? वह कौन-सी काव्य-पद्धति होगी, जिसे पेशेवर आलोचकों से पहले कबीर-तुलसी-ग़ालिब आदि की तरह इस देश की जनता आगे बढ़कर अपना सकेगी ?

अपने इन्हीं सवालों के बीच किसी ज्वालामुखी की तरह धधकते और फूट पड़ते कवि दुष्यन्त ने अंततः जो राह चुनी उसकी शुरुआत उनके चौथे काव्य-संग्रह 'जलते हुए वन का वसंत' से हो गई थी। संग्रह की भूमिका में कवि ने लिखा—'मैं ऐसे हवाई पाठक की कल्पना नहीं करता, जिसके बौद्धिक आयाम मेरे साँचों से मेल खाते हों। मैं तो ख़ुद पाठक के रूप में, उस कविता की खोज में हूँ जो हर व्यक्ति की कविता हो और हर कंठ से फूटे।' इसी बात को उन्होंने 'साये में धूप' के एक शे'र में भी कहा—

मेरी ज़ुबान से निकली तो सिर्फ़ नज़्म बनी,
तुम्हारे हाथ में आई तो इक मशाल हुई।

इस कहने का सबसे सपाट और दो टूक अर्थ तो यह है कि कवि जिन शब्दों को अपनी अभिव्यक्तियों का ज़िम्मा सौंपता है वे तब तक भरोसे के नहीं माने जा सकते जब तक उस भाषा का समाज उनमें अपना भरोसा न पा ले। लोक ही तो है जो शब्द की प्रामाणिकता और भरोसेमंदी पर अपनी मुहर लगाता है। दुष्यन्त ऐसी कविता और भाषा से ऊब चुके थे जो समाज के उन अतिविशिष्टों तक ही पहुँचती है जो तारीफ़ या निंदा में मूँड़ हिलाते या आँखें मटकाते रहते हैं। पर ऐसी कविता से परिस्थितियों और चट्टानी व्यवस्थाओं पर कोई भी असर नहीं पड़ता। वे अपनी कविता को इसी मशाल में बदल डालना चाहते थे। यही कभी एक धारदार औज़ार के रूप में उनके पाठकों के हाथ में आ जाने को उद्यत थी।

अपने समय के आदमी के असह्य ठंडेपन और निंदनीय उदासी को वे इनके द्वारा उथल-पुथलकारी कार्यवाही में बदल डालना चाहते थे। वे चाहते थे कि बहुत हो चुकी सहिष्णुता, बहुत हो चुका लोकतंत्र का नाटक। सत्ता-राजनीति के खेल से ऊबे और घुटते हुए राष्ट्र को उनकी ग़ज़लों ने उन रास्तों पर ला खड़ा किया था जो केवल प्रतिरोध के नहीं, लोकतंत्र के नए और कारगर भविष्य के रास्ते थे। समकालीन कविता की जानी-पहचानी राहों को अलविदा कर यदि वे ग़ज़लों की ओर चले आए तो यह एक बाक़ायदा सोचा-समझा और तयशुदा मामला था—

यहाँ कौन देखता है, यहाँ कौन सोचता है
कि ये बात क्या हुई है जो मैं शे'र कह रहा हूँ।

पर ऐसा भी नहीं था कि दुष्यन्त की इस पीड़ा का कोई भागीदार ही नहीं था। ग़ज़लें भारती और कमलेश्वर के संपादन में 'धर्मयुग' और 'सारिका' में छपीं। 'धर्मयुग' के संपादक भारती ने ग़ज़लों के बारे में लिखा—'वे एक ऐसे आदमी की प्रामाणिक पीड़ा-भरी आवाज़ थीं, जो अपने इस मुल्क को, अपनी इस दुनिया को बेहद प्यार करता रहा है, जो इसके बेहतर सपनों और उजले भविष्य के प्रति अखंड आस्थावान रहा है, भविष्य के सपनों में जी-जान से जिया है, जिसने देखा है बेबसी और लाचारी से एक-एक कर उन सपनों को बिखरते हुए और उसका दर्द पूरी शिद्दत से महसूस करते हुए।'

खुद दुष्यन्त ने उन्हीं दिनों हैदराबाद से प्रकाशित होने वाली 'कल्पना' पत्रिका में इस क़िस्से का बयान करते हुए लिखा—

'यहाँ मैं साफ़ कर दूँ कि ग़ज़ल मुझ पर नाज़िल नहीं हुई। मैं पिछले पच्चीस वर्षों से इसे सुनता और पसंद करता आया हूँ और मैंने कभी चोरी-छिपे इसमें हाथ भी आज़माया है, लेकिन ग़ज़ल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अकसर मुझे तंग करती रही है और वह यह कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए ग़ज़ल का माध्यम ही क्यों चुना ? और अगर ग़ज़ल के माध्यम से ग़ालिब अपनी निजी तक़लीफ़ को इतना सार्वजनिक बना सकते हैं तो मेरी दुहरी तकलीफ़ (जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठक-वर्ग तक क्यों नहीं पहुँच सकती ?'

समकालीन हिंदी, कविता की एकरसता या फिर आधुनिक, युवा, वाम और नई आदि विशेषणों से मंडित आज की कविता के वाग्जाल और सपाटबयानी से उकताकर मैंने उर्दू के इस पुराने और आजमूदा माध्यम की शरण ली है—गोकि मैं जानता था कि यहाँ भी इश्क और हुस्न से हटकर तकलीफ़ का बखान एक मुश्किल और नाज़ुक काम है और ग़ज़ल की रवायत से बँधे हुए लोग मेरी इस कोशिश पर नाक-भौं ज़रूर सिकोड़ेंगे। पर ज़िंदगी में ऐसा दौर आता है जब तक़लीफ़ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आना चाहती है। उस दौर में फँसकर ग़मेजानाँ और ग़मेदौराँ एक हो जाते हैं। दुष्यन्त की ग़ज़लें ऐसे ही दौर की देन हैं।

बावजूद इसके उनके अनुसार ग़ज़ल एक स्वतंत्र चीज़ है और वे उसे नई कविता की एक विधा तक मानने को तैयार हैं। उनके इस बयान में उनके असमंजस और उनके कवि की मुश्किलें भी साफ़ दिखाई देती हैं।

एक स्वतंत्र और लगभग पराई परंपरा को आज़माने और उसे अपनी भाषा में लाने

की चुनौतियाँ तब और भी मुश्किल-तलब हो उठती हैं जब आदमी उर्दू जानता ही न हो। दुष्यन्त एक अर्थ में उर्दू सचमुच नहीं जानते थे, पर जो उर्दू उन्हें अपने चारों ओर एक ज़ुबान के रूप में घुली-मिली मिली थी, वह उससे अपरिचित भी नहीं थे। उन्हें वे मुहावरे और बोली की वह चुहल अपने गाँव नवादा, अपने पिता और पट्टीदारों की बोलचाल में बचपन से सुनाई देते रहे हैं। दिल्ली- भोपाल के अपने उन साहित्यिक दोस्तों और भोपाल स्कूल के शायरों की बातचीत में भी दुष्यन्त ने इसी को अपनी शायरी के माकूल पाया और उर्दू अदब से चलकर आए शब्दों के हिंदी ध्वनि-रूपों को इन ग़ज़लों में बेहिचक अहमियत दी। वे जानते थे कि ध्वनियाँ ही तो भाषा की प्राण हैं। उन्होंने उसी कैफ़ियत में लिखा—'मैंने उस भाषा की तलाश की जो हिंदी को हिंदी और उर्दू को उर्दू दिखाई दे और आम आदमी उसे अपनी ज़ुबान समझकर अपना सके। इस प्रक्रिया में मैंने उर्दू शब्दों के तत्सम रूपों को रद्द करके उन्हें उस तरह स्वीकार किया, जिस तरह वे हिंदी में प्रचलित हैं—जैसे वज्न को वजन, शह को शहर या फसील को सफील।

उर्दू शायरी में ग़ज़लियत का अपना एक ख़ास अर्थ है। कहना शायद ठीक नहीं होगा कि दुष्यन्त की ग़ज़लों में वह जानी-पहचानी ग़ज़लियत अपने समूचेपन में मौजूद है। क्लासिक ग़ज़ल में तो बड़ी से बड़ी बात को कुछ इस तरह कह दिया जाता है कि वह ग़ज़ले-मुसलसल का प्रमाण बन जाती है। इसी बात को और भी अधिक ताक़त, और भी अधिक ख़ूबसूरती से उसी भाषा में तब दुबारा किसी और ढंग से कहना असंभव नहीं तो मुश्किल ज़रूर हो जाता है। कहा भी कुछ ऐसे जाए कि गुस्सा भी प्यार करने जैसा लगे। अंदाज़ेबयाँ का पेशीदापन और उसका झुमाऊ काव्य संगीत दुष्यन्त के अनुभवों के संदर्भ में कैसे मौजूँ साबित हो पाते ? वे गुस्से को गुस्से की ही तरह बयान करना चाहते थे। वे चाहते थे कि यथार्थ का तीख़ा और कड़वा रूप उनकी अभिव्यक्तियों में बाक़ायदा बरकरार रहे। किसी भी स्थिति में उसकी धार न तो कुंठित हो, न कमज़ोर पड़े। इसीलिए उन्होंने ऐसी भाषा चुनी, जिसकी ध्वनियों में गुस्से से भरे हुए आदमी का ताप और उसकी बेचैनियों की झनझनाहट का संगीत एक साथ सुना जा सके।

भले ही यह नाज़ुक और मीठी ग़ज़ल न हो, पर ऐसी भी क्यों हो जो लोगों के सामूहिक दुःखों और उनसे पैदा हुई उदासियों को ललित कला के छलावे में बदल दे। इसलिए उन्होंने अपनी ग़ज़लों में उस खुरदरेपन को एक नई बसाहट दी, जिसमें बेईमान किस्म की झूठी शब्दाडंबरमयी आक्रामकता और शैलीगत अनाड़ीपन का नकली चेहरा उजागर हो सके। वस्तुतः यह खुरदरापन तो उन अनुभवों और विचारों का है, जिनसे बुनियादी इंसानीपन और उसके जीवन संघर्ष की पहचान हुआ करती है। निस्संदेह यह गुलो-बुलबुल, साक़ी-पैमाना और कफ़स-सैयाद की ग़ज़ल नहीं है। यह एक ऐसे देश,

समाज और राष्ट्र की ग़ज़ल है, जिसकी चेतना 'भारत-दुर्दशा', 'अंधेर नगरी', 'भारत-भारती' आदि काव्यों से एकाकार होती हुई 'सरफ़रोशी की तमन्ना' और 'पुष्प की अभिलाषा' वाली चेतना-धारा से जुड़ती है। यह वो ग़ज़ल है, जिसकी स्मृतियों में एक महान् स्वतंत्रता संग्राम लहरें ले रहा है। जो हर सूनी, ख़ाली और लाचार हथेली को संकल्प की मुट्ठी और हर हाथ को मशाल में बदलना चाहती है। यह वह अग्निकुंड है जो धधकती लपटों और उठती चिंगारियों से भरा है। कवि दुष्यन्त के सीने में सचमुच कितनी आग थी इसका थोड़ा अंदाज़ 'साये में धूप' की ग़ज़लों को पढ़कर लगाया जा सकता है।

कुछ लोग शायद इसे ठहरे हुए पानी में पत्थर फेंकने की कला कहें तो कुछ आमूल-चूल बदलाव की कविता। कुछ लोग इसके तत्कालीन राजनीतिक संदर्भों के चलते इसे कालजयी कहने और मानने पर एतराज़ ज़ाहिर करें। यह सब संभव है, पर इसके ऐतिहासिक प्रस्थान और महत्त्व को नकार दें, ऐसा शायद ही कभी संभव हो पाए।

इन ग़ज़लों को लिखकर समकालीन हिंदी कविता में दुष्यन्त ने एक ऐसी जनोन्मुख, जनसमर्पित, जनपक्षधर रचनात्मकता का प्रमाण दिया है, जिसे न तो साहित्य का जटिलतावाद और अतिबौद्धिकतावाद घेर पाएगा, न ही वह सांप्रदायिक और कठमुल्ला होता जाता विचारधारावाद, जिसके आदेश और निर्देश साहित्य की राजनीति करने वाले संगठनों और उनके नियामक राजनीतिक दलों से चलकर आते हैं। साहित्य की इन तथाकथित सत्ताओं के दबदबे और इनके द्वारा फैलाए रचनात्मक कुहासे को भेदकर दुष्यन्त की यह कविता अपने पाठकों तक उनके ज़रूरत के मौक़ों और दुर्दिन के प्रत्येक दौर में पहुँचती रहेगी। मुझे याद है जब कवि ने लिखा :

एक गुड़िया की कई कठपुतलियों में जान है
आज शायर, ये तमाशा देखकर हैरान है

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क में या यों कहो—
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

भाषा संचालनालय के दफ़्तर में उसी दौरान जब मैं उनकी ग़ज़लों की उत्तेजक ऊष्मा से भरकर मिलने गया तो वे अपनी टेबल से उठकर ऑफ़िस के बाहर उस छोटे-से गेट पर आए जहाँ उनका चपरासी बैठा करता था। उन्होंने खड़े-खड़े ही उससे कहा, 'जाओ, तीन कट चाय ले आओ। मेरे और अपने लिए बीड़ी भी।' उसके जाने के बाद मैंने पाया कि उनका चेहरा कुछ सख़्त-सा हो गया था। वे बताने लगे—'जानते हो, इधर इन ग़ज़लों को लिखने पर मेरे साथ क्या हुआ, वो अपने राष्ट्रपति फखरुद्दीन अली अहमद खाँ विदेश गए तो बी०बी०सी० वालों ने उनसे पूछ लिया कि यह कौन-सा शायर है, जो इस तरह

लिख रहा है ? क्या आप उसे जानते हैं ? और उन्हें वो 'एक बूढ़ा आदमी' वाला शे'र सुना भी दिया गया। दिल्ली से इन्क्वायरी प्रदेश सरकार के मार्फ़त आई है कि शायर से पूछा जाए कि ये 'बूढ़ा आदमी' कौन है ?' वे आपातकाल के दिन थे। मैंने देखा कि अचानक उनके चेहरे की वह आकस्मिक सख़्ती लुप्त हो गई और शरारत और ज़िंदादिली के भाव उभर आए। उन्होंने कहा, 'मैंने शासन को जवाब में लिख दिया है कि वो बूढ़ा आदमी विनोबा भावे है।' और फिर उनके चेहरे पर विजय जैसा भाव आ गया। शायद वो मुझसे कहना चाहते थे कि लेखक को ऐसे निज़ाम में गोरिल्ला युद्ध करना पड़ता है। उसे भिड़ना भी पड़ता है और दुश्मन की ताक़त देखते हुए आत्मरक्षा के तौर-तरीक़े भी खोजकर रखने पड़ते हैं। दुष्यन्त को ये तरीक़े ख़ूब आते थे। अपने पिता से उन्होंने गाँव के मुकदमों के दौरान इस तरह की चालें और तरक़ीबें सीखी थीं। दिल्ली-भोपाल की नौकरियों को करते हुए कवि की स्वाधीनता को कैसे बरकरार रखा जा सकता है, इसे भी उन्होंने अपने तरह-तरह के अनुभवों से जान लिया था। वे 'महाभारत' के कृष्ण और अर्थशास्त्र के चिंतक कौटिल्य से इस मायने में सहमत थे कि अन्यायी से बातचीत और व्यवहार करने वाली भाषा कौन-सी होती है। यदि वे यह नहीं जानते तो साफ़ था कि बूढ़े आदमी से उनका मतलब आपातकाल को अनुशासन पर्व कहने वाले सत्ता-संत विनोबा से नहीं, सन् 42 के क्रांतिकारी और संपूर्ण क्रांति के लोकनायक बूढ़े हो उठे जयप्रकाश से था। उनकी ग़ज़लें उसी कथित क्रांति की जुड़वाँ बहनें हैं।

गुजरात और बिहार के नौजवानों की तरह इनके भीतर भी सब कुछ उलट-पुलटकर रख देने का वही जज़्बा था।

सच तो यह कि यह एक ऐसी कविता थी जो सच्चे और गहरे अर्थों में राजनीतिक थी और अपने समय की जनविरोधी राजनीति को नंगा कर रही थी। पर यह भी जानती थी कि उसे एक ऐसी भाषा और छंद-संगीत में उतरना पड़ेगा, जो चंद कथित सुपठ बौद्धिकों और पेशेवर काव्य-रसिकों की ज़ुबान और शैली न हो, यह ज़ुबान उस जन-बिरादरी की हो जो अपने पारंपरिक छंद संगीत, आस-पड़ोस के जीवनधर्मी बिंबों और जातीय कल्पनाओं में कुछ इतनी जानी-पहचानी और आत्मीय हो कि कविता को ठेठ बौद्धिक और अतिविशिष्ट व्यवहार मानने वाले ठगे-से रह जाएँ। साहित्य के जिन-तिन शैली-संप्रदायों से पहले जिसे उस लोक या जन की स्वीकृति मिल जाए जो राजनीतिक तौर पर बुरी तरह छला गया है और सत्ता-शिकारियों की गिरफ़्त में है।

दुष्यन्त ने अपनी कविताओं को यह स्वीकृति दिलवाई। कथित साहित्यिक हलके भले ही उन्हें अस्पृश्य और अछूत मानें, उनकी प्रखर प्रतिभा की अनदेखी करें, उनके रचनात्मक नवोन्मेष और साहस के बारे में सुनियोजित चुप्पी साध लें, पर ये ग़ज़लें आज

लोकप्रियता के शिखर पर हैं और उस समाज की अपनी कविता परंपरा में शामिल हो चुकी हैं जो कबीर-सूर-तुलसी और मीरा को अपना कवि मानता है। भले ही ये ग़ज़लें सुबह का भजन नहीं हों, पर साँझ के धुँधलकों और रात के गहराते अँधेरों की मशालें ज़रूर हैं।

अब ये हिंदी-उर्दू की साझी विरासत हैं। वह विरासत जिसमें फैज़ भी आते हैं, फ़िराक़ भी। ग़ालिब भी आते हैं तो निराला और नागार्जुन भी। इनमें साहिर के ज़ुबान की सफ़ाई और कोमलता है तो मज़ाज़ की बेचैनियाँ भी। इसे कोई चाहे तो हिंदी की कविता कहे या फिर उर्दू की। अगर इसमें उर्दू का जाना-पहचाना व्याकरण नहीं है तो हिंदी की अतिशुद्धतावादी पदावली भी नहीं है। यह उस बड़े और अखंड समाज की कविता है, जिसका धर्म संघर्ष और जिसकी संस्कृति मुक्तिकामी है। जो प्रत्येक यथास्थिति से लड़ती है और मानव-सभ्यता को नए-नए सपनों की सौगात देती है।

अब यह हिंदी-प्रदेश के विशाल पाठकों की यह अविस्मरणीय थाती है। इसे पढ़ा भी जाएगा और सुना भी। सामाजिक और सांस्कृतिक अवसरों पर कभी न कभी यह दुष्यंत-संगीत के रूप में प्रतिष्ठित होकर नारा, सूक्ति और मंत्र के रूप में अवाम के होंठों तक भी पहुँचेगी।

देर-सबेर यह विचार भी उठेगा कि दुष्यन्त के काव्य के मूल्य क्या हैं ? उनकी विचारधारा कौन-सी है ? वे क्या राष्ट्रकवि की तरह वैष्णववादी हैं। प्रेमचंद की तरह अग्निधर्मी गांधीवादी हैं। वे अगर वाम हैं तो संसदीय लोकतंत्रवादी हैं या क्रांतिकारी वामपंथवादी ? जवाब में कहना पड़ेगा कि वे गांधी जितने अहिंसक भी नहीं हैं, क्योंकि उनके हाथ में उछलने वाला पत्थर तो है पर वे अतिवामवादी भी नहीं हैं। उनकी कविता एक ऐसी व्यवस्था का सपना लिए हुए है जिसका विश्वास प्रत्येक स्तर पर लोक की मुक्ति में है। वे गांधी के दरिद्रनारायण और मार्क्स के सर्वहारा—मजूर और किसान—दोनों की मुक्ति के पक्षधर हैं। वे उस अवाम के साथ हैं जिसका ऐतिहासिक सपना चूर-चूर हो गया है और जो खुद अपने ही लोकतंत्र में आत्मनिर्वासित-सा है।

एक अख़बार के दफ़्तर से कभी इंटरव्यू देकर लौटते हुए दुष्यन्त ने अपने दोस्त कमलेश्वर से आत्मविश्वास से भरकर कहा था—'दोस्त, चिंता मत कर...हम भूखे मर जाएँगे, पर लोग हमें याद करेंगे !...हमारे पास कविता भी है और कहानी भी...हमारी मुक्ति लेखन में ही है।'

और दुष्यन्त ने अपनी बात सच कर दी। 'साये में धूप' लिखकर उसने साबित कर दिया कि ग़ज़ल की जिस विधा को निराला, त्रिलोचन और शमशेर बहादुर सिंह नहीं साध पाए उसे उसने साधा भी और साहित्य को परिवर्तन का एक हथियार बनाकर भी दिखा दिया। दुष्यन्त ने अपनी मुक्ति रचना में हासिल कर ली।

जिस दिन यह मुक्ति लोगों के जीवन में भी हासिल हो जाएगी, दुष्यन्त की कविताएँ अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा कर लेंगी।

एक संपादक के रूप में मुझे इन कविताओं को दुष्यन्त के पाठकों तक पहुँचाते हुए ज़बरदस्त कृतज्ञता और गौरव का अनुभव हो रहा है।

रचनावली का काव्य-खंड जहाँ समाप्त होता है, वह रचना ग़ज़ल नहीं है। वह एक आत्मसंलापात्मक तुकांत छंदों वाली रचना है, जिससे कवि ने अपनी गहराती जाती वेदना, कोफ़्त और घुटन को अंजाम दिया है। शीर्षक है—'चल भाई गंगाराम भजन कर।' इसमें समूचे आपातकाल का भयावह और तकलीफ़देह वातावरण सिलसिले से किंतु सांकेतिक शैली में अंकित है। इसे पढ़कर उदासी गहरी हो उठती है, रूह काँप जाती है, फिर भी दुष्यन्त अपनी अदा में यहाँ भी मौजूद हैं—'मैंने देखा यार निकट से/कोई त्राण नहीं संकट से/यह सर ऊँचा है चौखट से/औ' फिर तू चलता है तनकर।' यह पाठकों के अहसास को अनेक स्तरों पर चीरती हुई उनके व्यक्तित्व के भीतर दूर तक उतर जाती है। बक़ौल दुष्यन्त यही तो कविता होती है।

रचनावली के इसी खंड में पत्र-खंड भी जोड़ दिया गया है। कवि की रचना-प्रक्रिया, प्रेरणाएँ, उसकी जीवन-साधना का वृत्तांत यहाँ अनुभव किया जा सकता है।

—विजय बहादुर सिंह

इस खण्ड में

- एक कंठ विषपायी *[काव्य-नाटक]* : 1963
- जलते हुए वन का वसंत *[काव्य-संग्रह]* : 1973
- साये में धूप की ग़ज़लें : 1975
- कुछ प्रारंभिक और असंकलित ग़ज़लें
- कुछ असंगृहीत कविताएँ
- दुष्यन्त कुमार की अंतिम कविता

अनुक्रमणिका

एक कंठ विषपायी

समर्पण की बात सोचता हूँ तो मेरे सामने कई व्यक्ति आ खड़े होते हैं : श्री जगदीशचंद्र माथुर जिनके कारण नाटकों की ओर रुचि हुई, श्री नंदलाल चावला जिनके संपर्क से नाटक को समझाने का मौका मिला, मकबूल, साधना, दाभाड़े, इखलाक, कालिया जी और खुसरो भाई, जिनके सहयोग से अनेक नाटक 'प्रोड्यूस' किए, और फिर सतीश गर्ग जिसके साथ घंटों 'प्रोडक्शन' की समस्याओं पर बहसें होती थीं और जिसके जाने के बाद नाटकों के 'प्रोडक्शन' का उत्साह आधा हो गया था।

आभार-कथा

'एक कंठ विषपायी' मेरा पहला काव्य-नाटक है। इसकी कथा के सूत्र एक दिन यों ही बातचीत के दौरान श्री अनंत मराल शास्त्री ने मेरे हाथों में थमा दिए थे। उसी दिन मुझे लगा था कि जर्जर रूढ़ियों और परंपरा के शव से चिपटे हुए लोगों के संदर्भ में प्रतीकात्मक रूप से आधुनिक पृष्ठभूमि और नये मूल्यों को संकेतित करने के लिए इस कथा में पर्याप्त सामर्थ्य है तथा इस पर एक खंडकाव्य लिखा जा सकता है। इसके बाद मैंने इस विषय में जितना सोचा, कथा मेरे ऊपर उतनी ही हावी होती चली गई। और कुछ दिन बाद मैंने पाया कि मैं एक काव्य-नाटक के पहले अंक का पटाक्षेप कर रहा हूँ।

यों रेडियो की नौकरी में मात्र कौतूहल और प्रयोग के लिए मैंने दो-एक काव्य-नाटक लिखे थे, लेकिन वहाँ से त्यागपत्र देने के बाद कभी स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि मुझे इस विधा पर फिर लिखना पड़ेगा। अतः अब यह नाटक लिखा गया और मेरे टाइपिस्ट श्री भगवत सिंह वर्मा की तत्परता से टाइप भी हो गया तो मैंने इसे 'कल्पना' को भेज दिया—इस निवेदन के साथ कि यदि उन्हें प्रकाशनार्थ पसंद न आए तो अपनी राय अवश्य लिखें।

इसी बीच पंजाबी के प्रसिद्ध नाटककार भाई परितोष गार्गी भोपाल आए और नाटक सुनकर उन्होंने मंच की दृष्टि से कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए, जिनके कारण मुझे पूरा नाटक (तीसरे अंक को छोड़कर) फिर से लिखना पड़ा। परिणामस्वरूप नाटक तीन से चार अंकों का हो गया और उसमें राज-लिप्सा तथा युद्ध-मनोवृत्ति का मारा हुआ, सर्वहत नाम का, एक नया पात्र समाविष्ट हुआ, जो अनायास उभरकर आधुनिक प्रजा का प्रतीक बन गया।

इस परिवर्तन से मुझे सचमुच संतोष हुआ और मैंने कल्पना-संपादक बद्री विशाल पित्ती को इसकी सूचना देते हुए पुरानी पांडुलिपि लौटाने के लिए पत्र लिखा। उत्तर में उन्होंने अपने एक संपादक की सम्मति उद्धृत की कि 'यह 'अंधायुग' के बाद हिंदी की सशक्त काव्य-कृति है' और लिखा कि 'इस शर्त पर लौटा रहे हैं कि नाटक को तीन से चार अंकों का बनाकर आप इसे 'कल्पना' के लिए ही भेजेंगे।' इस

पत्र से मुझे बहुत प्रेरणा मिली, अस्तु।

उपर्युक्त सभी मित्रों का मैं आभारी हूँ।

और अब नाटक आपके हाथों में है। इसकी अच्छाइयों-बुराइयों का निर्णय आप ही करेंगे। अपनी ओर से मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मैंने पूरी निष्ठा और ईमानदारी से लिखा है।

–दुष्यन्त कुमार

एक कंठ विषपायी

पात्र

1. सर्वहत
2. शंकर
3. ब्रह्मा
4. विष्णु
5. इंद्र
6. दक्ष
7. वीरिणी
8. वरुण
9. कुबेर
10. शेष
11. द्वारपाल
12. अनुचर
13. एक सिपाही
14. दूसरा सिपाही

दृश्य : एक

वीरिणी :

शिथिल व्यवस्था नहीं
हृदय की सहज-जात दुर्बलता है यह
जैसे हर मनुष्य
अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर
जीवित
किसी सत्य के सहसा कट जाने पर
व्याकुल हो उठता है
या क्रोधित हो उठता है,

वैसे ही आप भी दुखी हैं
अपने घर की
सोनचिरैया उड़ जाने पर!

[स्थान : प्रजापति दक्ष का राजकीय गौरव के अनुरूप सुसज्जित निजी कक्ष, जहाँ वे अपनी पत्नी वीरिणी के साथ किसी अत्यंत गंभीर प्रश्न पर विचार-विमर्श कर रहे हैं]

दक्ष : शंकर!
शंकर!!
वह, जिसने घर की परंपरा तोड़ी है,
वह, जिसने मेरे यश पर कालिख पोती है,
जिसके कारण
मेरा माथा नीचा है सारे समाज में,
मेरे ही घर अतिथि-रूप में आए?
यह तुम क्या कहती हो?

वीरिणी : स्वामी!
हमको इच्छा के विरुद्ध भी
ऐसे बहुत कार्य करने पड़ते हैं
जिनसे
लौकिक मर्यादाओं का पालन होता है।

शंकर अपने जामाता हैं।

इतना बड़ा यज्ञ
इतना विशाल आयोजन
जिसमें आमंत्रित हैं
तीनों लोकों के प्रतिनिधि
समस्त ऋषि
और देव गण...
जिसमें सारे संबंधी आए हैं
सबका अलग भाग है
उसमें जामाताओं का भी हक होता है।

दक्ष : जामाता?
मैं तो उसको संबंधी कहने में
खुद को अपमानित अनुभव करता हूँ।
देवि!
क्या संबंधी का यह अर्थ नहीं
कि हमारी कोमल
अथवा
मधुर स्नेह की धारा से
कोई संयुक्त हो?
क्या संबंधों का निर्माण
घृणा पर,
हठ पर,
और अनिच्छा पर भी संभव हो सकता है?

वीरिणी : स्वामी, मैं तो अल्प-बुद्धि हूँ,
किंतु मुझे लगता है–
लौकिक संबंधों में,
इच्छा और अनिच्छा का कोई आधार
नहीं होता है।
किसी विवश क्षण से जुड़ जाते हैं हम यों ही
फिर उससे संबंध आप ही हो जाते हैं।

अपनी कन्या ने भी शायद
किसी विवश क्षण में
शंकर का वरण किया था।

दक्ष : वरण किया था
अथवा शंकर ने उसका अपहरण किया था?

वीरिणी : आप इसे अपहरण कहेंगे?

दक्ष : हाँ, अपहरण।
देवि!
मैं निश्चय ही इसको अपहरण कहूँगा।
क्या अबोध मन को फुसलाकर
देवत्वों का जाल बिछाकर
विविध प्रलोभन देकर
उसे जीत लेना–

अपहरण नहीं है?
सती बालिका थी
अबोध थी
और अविकसित बुद्धि किशोरों-सी
थी उसके आकर्षण में।
तुम उसकी कैशोर्य भूल को क्षम्य कहोगी
पर शंकर तो–
खुद को महादेव कहता है।

वीरिणी : सभी लोग कहते हैं स्वामी
केवल कहने भर से उनकी
अपनी महिमा बढ़ जाती है।
शंकर का देवत्व
लोक में स्वयं-सिद्ध है,
उनका संयम विश्व-विदित है
और
सती ने इसीलिए
शंकर को महादेव माना था
अपनी अनाशक्ति को तजकर
दुर्वह नंदा-व्रत ठाना था।
नाथ!
अगर किशोरों वाला आग्रह
होता उसके आकर्षण में,
तो वह शासन के आदेशों पर झुक जाती,
एक प्रलोभन
अथवा भय से,
उसकी सब दृढ़ता चुक जाती।
अगर सचाई का बल
उसके साथ न होता
तो शंकर की
संयम-शिला कदापि न हिलती,
अपनी पुत्री सती,
इस तरह आत्म-तुष्ट या सुखी न मिलती।

दक्ष : सच है देवि!
मेरी मर्यादाओं को अपमानित करके

मेरे घर की
लोक-प्रतिष्ठा की हत्या कर
मेरे ही रक्त ने सृजन का सुख पाया है।
—यह अपवाद विरल है
लेकिन
शंकर के मोह में सती ने
अपने
अथवा अपने पति के?
दुर्भाग्यों को उकसाया है।
तुमको बतलाए देता हूँ—
सारे भद्र-लोक से उसे
वहिष्कृत करके छोड़ूँगा मैं।
उन दोनों ने केवल मेरी
बाह्य प्रतिष्ठा खंडित की है
उनकी आत्म-प्रतिष्ठा का भ्रम तोड़ूँगा मैं।
यह यज्ञायोजन विराट
उनके अभाव का श्रीगणेश है।
हर अवसर
हर आयोजन पर
अपनी अवहेलना देखकर
शंकर का देवत्व स्वयं ही झुलस उठेगा।
इतनी बड़ी उपेक्षा
और अवज्ञा
उसको सह्य न होगी।
[क्रूर हँसी हँसते हुए]
उसको अपनी महाशक्ति का बड़ा दर्प है
मेरी कूटनीति भी देखे...
[हँसता है]
[सहसा कक्ष में एक भृत्य प्रवेश करता है]

भृत्य : प्रभु!
राजकुमार सुलभ ने
अपने निजी कक्ष के द्वार बंद कर
अभी एक चिड़िया को बंदी बना लिया है,
कहने पर भी

उसको मुक्त नहीं करते हैं।
दक्ष : क्या कहता है?
भृत्य : कहते हैं—
इससे खेलूँगा।
दक्ष : तो फिर उसे खेलने दो।
भृत्य : लेकिन प्रभु¨
उस चिड़िया की चीं-चीं से—
उसकी कातर ध्वनि से
सारा वातावरण त्रस्त है।
नन्हे-नन्हे पंखों की कातर आवाज़ें
अंतःपुर में गूँज रही हैं।
सारे भृत्य सहमकर
अपने कार्य छोड़कर
उसी कक्ष के निकट खड़े हैं।
वातायन स
सारा कौतुक देख रहे हैं।
दक्ष : उनसे कहो
कार्य पर जाएँ।
भृत्य : मैंने सबसे कह देखा
वे मेरी बात नहीं सुनते हैं।
कहते हैं—
कार्य के लिए है हमें शांति की आवश्यकता
ऐसी हाय-हाय में क्षण-भर
हमसे कार्य नहीं हो सकता।
पहले इस चिड़िया को मुक्त कराओ¨
दक्ष : कौन मूर्ख ऐसा कहता है
उसको मेरे सम्मुख लाओ¨
वीरिणी : अच्छा सर्वहते!
तुम जाओ।
सुलभे से जाकर कह देना
महाराज की आज्ञा है यह
मुक्त किया जाए पक्षी को।
कहना—
स्वयं राजमाता आने वाली हैं

और तुम्हारे इस कुकृत्य पर
बहुत रुष्ट हैं।
इस पर भी यदि कहा न माने
तो तुम बल-प्रयोग से
उसके द्वार खोलकर
मुक्त करा देना पक्षी को।

सर्वहत : जैसी आज्ञा।
[चला जाता है]

दक्ष : *(एक पल वीरिणी की ओर देखकर)*
देवि!
तुम्हारा हृदय बहुत कोमल है।

वीरिणी : और आपका बहुत वज्र है...
जो अपने ऐसे पवित्र आयोजन द्वारा
अपने जामाता को
अपना शत्रु बनाने पर उद्यत है।

दक्ष : मैंने नहीं देवि,
उसने ही
मुझे विवश करके,
अपमानित करके
अपना शत्रु बनाया...
मेरी भोली-भाली कन्या को बहकाया।

वीरिणी : लेकिन स्वामी
नर-नारी के संबंधों में
इससे भी ज़्यादा अनहोनी घटनाएँ
घटती रहती हैं।
परिणय, नारी की परिणति है।
और स्वयं आप ही बताएँ—
क्या अपनी कन्या को
शंकर से अच्छा वर मिल सकता था?
लगता है
आपको
सती के जाने का आघात लगा है
पितृ-हृदय की ममता को
धक्का पहुँचा है।

दक्ष : *(गंभीर होकर सोचते हुए)*
एक नहीं
मुझको अनेक आघात लगे हैं।
देवि!
यदि शंकर की सती कामना थी
तो सीधे मुझसे कहता।
देवलोक में
इतनी परिचर्चा की क्या आवश्यकता थी?
क्या आवश्यकता थी बोलो
इस रूपक के आलंबन की
व्यर्थ प्रेम के नाम
हमारी लोक-हँसाई, बदनामी की
—परंपराओं के खंडन की¨।
इस पर भी तुम
उसे यज्ञ में आमंत्रित करने की
अभिलाषा रखती हो?

वीरिणी : मेरा तो उद्देश्य
मात्र इतना है स्वामी—
अपना आयोजन अबाध, निर्विघ्न पूर्ण हो
सबका मंगल योग प्राप्त हो
सबका इसमें भाग-भोग हो।
स्वामी,
यदि कैलासनाथ रह गए उपेक्षित
तो अपनी सब प्रजा क्या कहेगी?
¨यह सोचें।
क्या सोचेगी सती,
¨आपकी पुत्री
उस पर क्या बीतेगी?
क्या उसको मालूम न होगा—
¨पितृलोक में आज—
यज्ञ का आयोजन है।
और आपने तो
उसको भी नहीं बुलाया।

दक्ष : हाँ,

उसको भी नहीं बुलाया।
ताकि उन्हें मालूम हो सके,
वे अपने को
अपमानित अनुभव कर पाएँ
इसीलिए मैंने चुन-चुनकर
हर कैलास-लोक के प्रतिवेशी को
आमंत्रण भेजा है।

वीरिणी : क्षमा करें
पर इसमें कोई भी नैतिकता
निहित नहीं है।

दक्ष : मुझे मान्य है।
किंतु देवि!
यह राजनयिकों की भाषा है
इसकी शब्दावली अलग है।
इसमें उत्तम या उदात्त-से
भावों के अभिव्यक्तिकरण को
समुचित शब्द नहीं होते हैं।

वीरिणी : किंतु¨
सती या महादेव तो इस भाषा को
नहीं जानते।
उन दोनों की भाषा तो मेरी जैसी है।
शायद मेरी भाषा से भी
अधिक सुकोमल!
अधिक प्रेममय!!
आप अगर उनकी भाषा से
राजनीति के अर्थ निकालें
तो यह उन दोनों के ही प्रति
न्याय न होगा।

सर्वहत : प्रभु,
मैंने आदेश-बद्ध हो
बल-प्रयोग से द्वार खोलकर
मुक्त कर दिया था पक्षी को¨।
¨तब से राजकुमार रुष्ट हैं
अपने को अपमानित अनुभव करते हैं¨

भृत्यों को अपशब्द कह रहे हैं¨
निजी अनुचरों को भी
अपने पास नहीं आने देते हैं।
और कक्ष का क्रम बिगाड़कर
सभी वस्तुएँ अस्त-व्यस्त कर फेंक रहे हैं।
शस्त्र लिए हैं
और मुझे दंडित करने को खोज रहे हैं।

दक्ष : *(सहसा कुपित होते हुए)*
बिलकुल ठीक कर रहा है वह।
एक तनिक-से बालक को
प्रसन्न रखने में अक्षम
तुम सब दंडनीय हो।
जाओ तुम
मेरी आँखों के आगे से
तत्क्षण हट जाओ
और¨सुनो—
ये छोटी-छोटी बातें लेकर
फिर से मेरे पास न आना
[सर्वहत शीश झुकाकर चला जाता है]
देखा देवि!
अंतःपुर की शिथिल व्यवस्था का यह फल है।

वीरिणी : शिथिल व्यवस्था नहीं
हृदय की सहज-जात दुर्बलता है यह।
जैसे हर मनुष्य
अपनी सामर्थ्य और सीमा के भीतर
जीवित
किसी सत्य से सहसा कट जाने पर
व्याकुल हो उठता
या क्रोधित हो उठता है,
वैसे ही अपना सुलभा भी
विवश दुखी है।
[मुस्कराकर]
वैसे ही आप भी दुखी हैं
अपने घर की सोनचिरैया उड़ जाने पर।

दक्ष : *(कटुता से तिलमिलाकर)*
देवि!
तुम्हें असमय परिहास याद आते हैं।
वही पिष्टपेषित
नारियों-सरीखी
बासी
क्षुद्र उक्तियाँ
वे ही पिटी-पिटाई बातें...

द्वारपाल : *(प्रथानुसार प्रवेश करते हुए)*
प्रभु ने
आगंतुक ऋत्विज
ऋषि, देव-गणों की
वास-व्यवस्था के जो-जो आदेश दिए थे
उनका दोष-रहित निष्पादन
महामात्य के संरक्षण में पूर्ण हो गया।
...किंतु द्वार पर महामात्य का अनुचर
कोई गुप्त और आत्यंतिक
उनका संदेशा लेकर आया है...।
क्या आज्ञा है?

दक्ष : उसको आने दो।

द्वारपाल : जो आज्ञा।
[प्रस्थान]

वीरिणी : मेरी दाईं आँख फरकने लगी अचानक
सहसा बैठे-बैठे
मेरा जी अकुलाया।
अभी-अभी
मेरे हृत्कंपन की गति
कैसी तेज़ हो गई,
आँखों के सामने
अँधेरा-सा घिर आया।
[भयभीत होकर]
...ऐसा लगता है
जैसे कोई अनिष्ट होने वाला है।

दक्ष : देवि!

क्या यह भी परिहास-व्यंग्य की
एक विधा है?
...अगर सत्य है
तो तुमको विश्राम चाहिए
और कुछ नहीं।
नारी का शंकालु स्वभाव सदैव
इष्ट में भी अनिष्ट की
आशंका रचता आया है।
[द्वारपाल के साथ महामात्य के अनुचर का प्रवेश]

अनुचर : *(झुककर प्रणाम करते हुए)*
प्रभु की इच्छानुसार
यथा-योग्य
सारे आमंत्रित ऋषि,
देव और राजप्रमुख,
समुचित सत्कार
तथा सुविधा के साथ
यज्ञ-मंडप में पहुँच गए।
सभारंभ में यद्यपि है विलंब
किंतु...
वहाँ आपकी प्रतीक्षा है।

दक्ष : क्यों?
क्या किसी अतिथि के
आवास की व्यवस्था में त्रुटि निकली?

अनुचर : नहीं देव!
वह सब निर्दोष और उत्तम है।
किंतु...

वीरिणी : *(उत्सुकता के साथ उसके निकट आकर)*
इस प्रकार चुप क्यों हो?
बोलो...
क्या दुविधा है?
बोलो ना...

अनुचर : राजसुता...
सती
महादेव शंकर के गणों और नंदी के साथ

यज्ञ-मंडप में पहुँच गईं।

दक्ष : सती!

वीरिणी : सती!
सती आ गई?
[वीरिणी का मुख सहज उल्लास की आभा से दीप्त हो उठता है]

अनुचर : हाँ राजमाता!

वीरिणी : तो फिर उसे यहाँ क्यों नहीं लाए?
क्या तुमको विदित नहीं
सारे अतिथियों को
यज्ञ-मंडप में ले जाने से पूर्व,
उनके विश्रांति भवन-कक्षों में
स्नान
और यात्रा के श्रम के परिहार हेतु
लाना आवश्यक है।

अनुचर : मुझे विदित है।

दक्ष : *(आवेश में)*
क्या तुम्हें विदित है
इस यज्ञ के विराट आयोजन में
उसको आमंत्रण तक नहीं गया?

अनुचर : मुझे विदित है प्रभु,
इसीलिए महामात्य चिंतित हैं
प्रभु के आदेश
प्राप्त करने के लिए मुझे भेजा है।
राजसुता सती की व्यवस्था
क्या होगी प्रभु?

वीरिणी : तुम उसे तुरंत
यहाँ ले आओ।

दक्ष : नहीं।
उसको कैलास-लोक पहुँचा दो।

अनुचर : उनको अंतःपुर में आना स्वीकार्य नहीं।
कहती हैं
अनाहूत आई हूँ
महलों में क्यों जाऊँ?

और प्रभु!
क्षमा करें
सती, यज्ञ-मंडप में क्रुद्ध
महादेव पति की अवज्ञा पर क्षुब्ध
धर्म और शासन की
मर्यादा भंग कर
अतिथि
और आतिथेय
सबको अपशब्द कह रही हैं...

वीरिणी : *(सहसा क्रोध में भरकर)*
चुप हो जाओ असभ्य!
सत्य नहीं कहते हो तुम
हमको मर्यादा और धर्म समझाते हो।
जानते हो
सती के स्वभाव की कर्त्री मैं हूँ
मैं!...
मैं जानती हूँ...।
[रुँधे कंठ से]
मैं जानती हूँ—
मेरी पुत्री क्या है
और कैसी है...?

दक्ष : सत्य कह रहे हो तुम।
समझ गया।
ठहरो, मैं चलता हूँ।
अनाहूत, अनिमंत्रित लोगों को क्या हक है
आकर
आलोचना करें मेरी
और
धर्म की पवित्र मर्यादाएँ तोड़ दें।
क्या हक है
आतिथेय
अथवा अतिथियों पर क्रोधित हों
अपना विवेक और संतुलन छोड़ दें।
सती से अपेक्षित था

उसका या शंकर का
कोई स्थान नहीं है जब,
तो वह चुपचाप वहाँ
प्रजा में खड़ी होकर
यज्ञ का संपादन देखे
या लौट जाए¨।
मैं अपनी मानहानि सहन नहीं कर सकता।
शंकर ने
सती को बनाकर गोट
चाल जो चली है
मैं समझता हूँ।

वीरिणी : नहीं नाथ,
यह बिलकुल मिथ्या है।
ऐसा कदापि नहीं हो सकता।
चाहे विद्रोही हो कितना भी
किंतु रक्त अपना है।
सती
स्वयं पितृ-मोहवश ही
यहाँ आई है।
आपको विदित है—
वह
कितना स्नेह करती थी आपसे।
—इसीलिए मंडप में
सबका स्थान और भाग देख
बुरा लगा होगा उसे।
यों ही कुछ कह बैठी होगी वह।
आपने ही अधिक लाड़ देकर उसे
क्रोधी बनाया है¨

दक्ष : हाँ।
मैंने बनाया है।
किंतु मैं तोड़ भी सकता हूँ।

वीरिणी : पर क्या तुम्हारा मन
यह करके
कहीं शांति पाएगा?

ज्वाला में झुलसेगा अगर फूल
तो क्या धुआँ
डाल और वृक्ष तक न जाएगा?

दक्ष : कुछ भी हो।
मैं उसको वापस कैलास-लोक भेजूँगा।
देखी है सती ने यहाँ
—पति की अवज्ञा,
और
अब अपनी पत्नी की अवज्ञा भी—
देखे शिव।

वीरिणी : नाथ!
ऐसा अविवेकपूर्ण
कोई भी कार्य यदि यज्ञ में हुआ
तो मैं शपथपूर्वक कहती हूँ
आज
और अभी
और इसी क्षण
मैं आत्मघात कर लूँगी।
देखूँगी
कैसे करोगे यज्ञ?
नाथ!
मेरी अंतिम विनती है यह
सती अगर आई है
तो उसको वापस न भेजें अब!
—जाने क्यों
आप भूल जाते हैं—
सती—
मात्र पत्नी नहीं है शिव शंकर की
पुत्री भी है वह किसी की!
पत्नी का मान
नाथ!
पतियों की एक सहज आकांक्षा होती है।
आप तनिक बतलाएँ
मेरे संग अगर कहीं इसी तरह हो जाए

तो क्या तुम आत्मा पर
पर्वत-सा भार वहन कर लोगे?
मेरा अपमान सहन कर लोगे?
बोलो···

दक्ष : *(अतीव कोमलता से विचारते हुए)*
सच ही तुम देवि!
बहुत कोमल हो।
अपना संदर्भ उठाकर तुमने
मेरे ही मन में दुर्बलता जाग्रत कर दी,
चुपके से अंतर में
जाने कैसी
विवेकहीन भावना भर दी।
अब तुम विश्वास रखो प्रिये,
शिव के प्रति मेरा आक्रोश
कभी
सती पर न उतरेगा।
राजकीय गौरव के योग्य
सती
भाग-भोग पाएगी
यज्ञ में रहेगी वह।

अनुचर : प्रभु!
यह व्यवस्था मैंने
स्थिति सँभालने के लिए स्वयं
पहले ही कर दी थी।
प्रभु के आदेश बिना
बहुत बड़ा निर्णय लिया था,
किंतु···

वीरिणी : सती ने नहीं माना।

अनुचर : जी हाँ, प्रभु,
उन्होंने नहीं माना।

दक्ष : क्यों?
उसको स्थान
और मान
और यथायोग्य भाग-भोग

सबका आश्वासन मिल गया
और फिर भी वह तुष्ट नहीं।

वीरिणी : स्वामी!
पत्नी की मर्यादा
पति की मर्यादा से होती है।
और आपके इस आयोजन में
सभी देवताओं के बीच
कहीं शंकर का स्थान नहीं।
सती
अथवा कोई भी नारी
यह कैसे सह सकती है?

अनुचर : ठीक यही बात देव!
राजसुता सती ने
महामात्य से कही थी।
कहा था उन्होंने—
"मेरा घर है यह,
मेरा क्या,
मैं तो प्रजा में खड़ी होकर भी
दर्शक की तरह यज्ञ देखूँ तो
मेरी मर्यादा नहीं घटती।
पर मेरे महादेव शंकर का स्थान
वहाँ
सर्वोपरि आसन के निकट रहे।"

दक्ष : ऐसा असंभव है।
उसके चुप होने की अगर यही शर्त है
तो यह असंभव है।
कह देना
मेरे आयोजन में
शंकर का कोई स्थान नहीं हो सकता।

अनुचर : मैंने कहा था प्रभु,
इस पर वे
बिगड़ उठीं?

दक्ष : बिगड़ उठी?

वीरिणी : अपने इस निर्णय पर

फिर सोचें नाथ!
महादेव अपने जामाता हैं
अन्य नहीं।
उनका अपमान स्वयं
आत्म-भर्त्सना ही है।
मैं तो यह कहती हूँ
आप बैर ठानें तीनों लोकों के साथ,
किंतु शंकर से नहीं।
उनका आक्रोश वहन करने की
क्षमता त्रिलोक में नहीं है नाथ!
वे हैं साक्षात् ब्रह्म···महादेव···

दक्ष : बार-बार शंकर को महादेव कहकर
उसका तेज बतलाकर
क्या तुम मुझे डराती हो?
···तो सुन लो,
मेरा दृढ़ निश्चय है
मेरे आयोजन में
शंकर का कोई स्थान नहीं होगा।
यही नहीं
युग-युग तक
किसी यज्ञ अथवा आयोजन में
उसको निमंत्रण तक न जाएगा।
देखूँ, वह मेरा क्या करता है?
अपने अतिथियों को आमंत्रित करने की
मुझको स्वतंत्रता है।
सती अगर चाहे
तो दर्शक की तरह रहे
वरना वह लौट जाए।
मेरा उन दोनों से कोई संबंध नहीं।
मैं उससे स्वयं कहे देता हूँ···
[आवेश में दक्ष अनुचर को लेकर मंच से चला जाता है]

वीरिणी : *(स्तंभित-सी)*
नाथ!
तनिक ठहरो तो।

सोचो तो—
मेरा नहीं, अपना
और अपने इन बच्चों का भाग्य,
और राज्य का भविष्य!
आह! चले गए।
[आकाश की ओर देखते हुए उँगली उठाकर]
क्रूर नियति!
वह तेरे हाथों से छले गए।
बोल,
मुझे बता,
मुझ पर श्राप क्यों पड़ा तेरा?
कब मुझसे धर्म की अवज्ञा हुई है?
कब मैंने शंकर की मानता नहीं मानी
कब मैंने सपने में
किसी अमर्यादा की छाया छुई है?

सर्वहत : *(दुखी-सा प्रवेश करते हुए)*
देवि!
आप धैर्य धरें।
आपके ललाट पर उभर आई
पीड़ा की रेखाएँ
देखी नहीं जातीं।

वीरिणी : *(सर्वहत की उपस्थिति से अनभिज्ञ-सी)*
आह!
मैं समझ गई।
दुर्दिन जब आते हैं
तो पहले
व्यक्ति का स्वतंत्र-बोध
चिंतन
औ' प्रज्ञा हर लेते हैं।
अनायास
मन की वैचारिक स्थितियाँ
प्रतिबंधित कर देते हैं।
पार्श्व में प्रसंगों में
लघुता भर देते हैं।

[चिंतन की आत्म-लीन मुद्रा में]
यही प्रश्न था
जो कल से अब तक
मुझे विकल करता रहा,
अपनी संपूर्णता सहित अक्षय
मेरे प्रतिरोध के धरातल पर
छाया-सा फैलता-उतरता रहा,
नई विधा अंकित कर मेरे विचारों में
भाव-बोध में मेरे
...अकुलाहट भरता रहा;
यही प्रश्न!
फिर इसका तिक्त बोध!
फिर-फिरकर यही रोध!!
...इसकी अनुगूँज
मुझे और व्यथित करती है...
एक अशुभ आकृति
चक्षु-पटल पर उतरती है
शून्य में उभरती है...
आह!
[अंतर्वेदना के कारण दोनों हाथों से शीश पकड़कर बैठ जाती है]

द्वारपाल : *(घबराहट में तेज़ी से प्रवेश करते हुए)*
महादेवि!
क्षमा करें
एक अशुभ सूचना मिली है।

वीरिणी : *(तुरंत उठकर उसकी ओर बढ़ती हुई)*
शीघ्र कहो
क्या हुआ सती को,
मेरी लाड़ली सती को...क्या हुआ
बोलो,
चुप क्यों हो?

द्वारपाल : *(निश्चल-सा)*
सब कुछ हो गया अभी पल भर में
महादेवि!
अब तक भी उस पर विश्वास नहीं होता।

जैसे ही महाराज
क्रोधातुर
महादेव शंकर पर
रोष व्यक्त करते
यज्ञ-मंडप में घुसे,
तैसे ही अनायास,
भगवती सती के पास
विद्युत-सी कौंध गई।
भस्म हो गया उसमें
—सुंदर सर्वांग चंद्र-गौर-वर्ण
और दूसरे ही पल
भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था।

[अनायास वीरिणी भूमि पर बैठ जाती है और उसका सिर एक ओर ढुलक जाता है। द्वारपाल कहीं खोया हुआ-सा, तन्मयता से वर्णन करता चला जाता है, जिसे केवल सर्वहत आँखें फाड़े और मुँह बाए निश्चल सुनता जाता है]

भगवती सती का अधझुलसा शव
सामने पड़ा था···
और···
उस भयावह निस्तब्धता में
महादेव का नंदी
क्षुब्ध अंगरक्षक-सा
पागल खड़ा था।
महादेवि!
सहस्रों झंझाओं की तरह फड़फड़ाते हुए
उसके वे नथुने!
और सब ज्वालामुखियों की अग्नि लिए
उसके वे नेत्र!
महादेवि!
उसका वह रौद्र रूप देखकर
अनेक जन्म
तत्क्षण हो गए पूर्ण।
औ' फिर

जिस वेग से गया है वह
यज्ञ छोड़
महादेव शंकर के पास
असंभाव्य ऐसी दुर्घटना की
सूचना देने के लिए
उसकी कल्पना-मात्र
मेरा हर रोम कँपा जाती है;
महादेवि! क्या होगा?

महादेवि! आज्ञा दें
मैं इन श्री चरणों में बैठ सकूँ
मुझे और कहीं नहीं
यहाँ तनिक शांति नज़र आती है।
[ज्यों ही द्वारपाल का वाक्य समाप्त होता है सर्वहत वीरिणी को भूमि पर पड़ी देख चीख उठता है]

सर्वहत : महादेवि!
[और प्रकाश के विलयन के साथ परदा गिरता है]

दृश्य : दो

सर्वहत :

इस दुखांत नाटक का पटाक्षेप
मेरे मंच पर आने से पूर्व हो चुका था।
सारे दर्शक
सारे अभिनेता चले जा चुके थे।
मैं तो केवल
निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था—
मात्र भृत्य!
मैं यह नाटक क्यों देखता भला?
मुझसे¨या हमसे
यह आशा कब की जाती है
कि हम नाटक देखें¨उसमें भाग लें।

[स्थान : प्रजापति दक्ष का वही कक्ष किंतु उसकी सज्जा अस्त-व्यस्त है और सारी वस्तुएँ टूटी-फूटी पड़ी हैं। उसे देखकर ही ऐसा आभास होता है मानो वहाँ युद्ध हुआ हो, जिससे उसका सारा क्रम नष्ट हो गया हो]

[परदा उठने के एक क्षण पश्चात् भगवान् ब्रह्मा और विष्णु वहाँ प्रवेश करते हैं]

विष्णु : जनसंकुल राजमार्ग : नीरव
जन-हीन नगर,
चिड़ियों के नुचे हुए पंखों-से
सारे घर,
सारा क्रम छिन्न-भिन्न
पूरा परिवेश भग्न
और ध्वस्त इन सारी स्थितियों पर
तनी हुई
वह आकृति : क्रोध-मग्न!

ब्रह्मा : आह! बंधु विष्णु!
वह प्रसंग मत उठाओ अब,
कल्पना-फलक पर उभर आता है बार-बार
महादेव शंकर का दुर्निवार
पीड़ा से भरा हुआ नीलकंठ
पाँचों मुख
दुःख की अभिव्यक्ति में निरत, असफल,
मस्तक में खौल रहा गंगाजल
औ' त्रिनेत्र ज्वाला के स्फुलिंग बरसाते
विह्वल आवेशयुक्त चतुर्भुजा
दक्ष प्रजापति के
उस यज्ञ की दिशा में उन्मुख त्रिशूल
जिसमें हम सबने,
सब देवों ने, ऋषियों ने
भाग लिया था।

विष्णु : और जिसमें सती ने
अपने पति महादेव शंकर की अनुपस्थिति
जानकर अहेतुक अपमान

अपराधी दक्ष को बताया था
पति की अवहेलना अवज्ञा का...

...जिसमें
नारी का पातिव्रत्य
सहन नहीं कर सका उपेक्षा उस शिव की
जो सार्वभौम
जगती में महासत्य,
सारे ब्रह्मांडों में सर्वोपरि
स्वयंपूर्ण!

...जिसमें सती ने
उस प्रजापति पिता के कुटिल
पति के प्रति मानहानिपूर्ण
अशुभ वाक्यों के पाप से निवृत्ति हेतु
सहज योग धारण कर
नाभि चक्र से सयत्न
प्राण अपान वायु को समान कर
उदान को उठाकर
तन का लौकिक प्रकार भस्म कर दिया था।
[मंच पर प्रकाश-व्यवस्था द्वारा उदास वातावरण की सृष्टि होती है, जिसमें देवराज इंद्र प्रवेश करते हैं]

इंद्र : हाँ प्रभु,
वह दुःखद दृश्य।
उससे भी दुःखद पुनः
शिव-अनुचर गणों और भृत्यों का
अनधिकार रक्तपात।
क्षीर-सिंधु-वासी इन पारब्रह्म प्रभु पर भी
वीरभद्र का प्रहार
औ' मुझ पर नंदी का बार-बार
दुर्निवार अस्त्रों से संघातक लक्ष्य।
हाँ प्रभु,
वह दुःखद दृश्य भूल नहीं पाता हूँ...

वरुण : *(प्रवेश करते हुए)*
यही नहीं देवराज,
महादेव शिव के गणों को स्वयं
देवों का रक्तपान करते मैंने देखा।
वीरमुंड ने मुझ पर
आक्रमण किया था जब
भैरवीनायक रक्तपान कर रहा था वहाँ।

इंद्र : प्रभु,
मैंने चाहा था—
महादेव शंकर के
मदोन्मत्त भृत्यों को समझा दूँ!
मैंने कहा था बंधु-भाव से कि "मित्रो!
भगवती सती का यह देह-त्याग
महादेव शंकर के
अथवा तुम्हारे परिताप तक नहीं सीमित,
यह तो त्रैलोक्य ताप है,
कण-कण पर उतरा है,
फिर तुम क्यों यज्ञ भंग करते हो?
इससे परिताप कम नहीं होगा।
कोई प्रतिकार भी नहीं होगा।
संभव है क्लेश मिले तुमको भी
अतिथि देव-पुत्रों से।"
इस पर वे असुर-वृत्ति
वेदी पर टूट पड़े
वयोवृद्ध आंगिरस,
कृशाश्वमुनि,
दोनों के शीश पर
प्रहार किया पाँवों से।
दुष्टों ने भृगु जी की
दाढ़ी को नोच लिया।
यज्ञ किया खंडित
कर रक्तपात,
निर्जन कर दिया नगर।

ब्रह्मा : मुझे सब विदित है बंधु देवराज!

ऋत्विज या अतिथि
यहाँ जो-जो भी आए थे,
आहत या अपमानित होकर ही लौटे हैं।
शेष यहाँ कुछ भी नहीं है अब···
कुछ भी नहीं!
[उसी समय क्षत-विक्षत दशा में दक्ष का भृत्य सर्वहत गर्दन झुकाए लड़खड़ाता हुआ प्रवेश करता है]

सर्वहत : *(आते हुए)*
कौन कहता है—
यहाँ कुछ भी नहीं है शेष।
यहाँ शेष ही तो है सब कुछ···
देखो···
सारे नगर में ताज़ा
जमा हुआ रक्त है
और सड़ी हुई लाशें हैं
मुड़ी हुई हड्डियाँ हैं
क्षत-विक्षत तन हैं
और उन पर भिन्नाते हुए
चीलों और गिद्धों के झुंड
और मक्खियाँ हैं।
सब कुछ तो है।
देखो ये महल हैं
कँगूरे हैं
कलश हैं
अतिथि-भवन हैं
राजमार्ग हैं···।
सिर्फ लोग नहीं हैं तो क्या हुआ?
लोगों के होने न होने से
क्या कोई दृश्य की महत्ता कम होती है?
[सहसा कष्टपूर्वक सिर ऊपर उठाने का असफल प्रयत्न करता है]
आह!
तुम लोग शायद अतिथि हो।
अथवा यज्ञ देखने के लिए यहाँ आए हो?

वरुण : हाँ, हम अतिथि हैं।
सर्वहत : मैं समझ गया¨
यज्ञ के लिए ही आए होंगे¨
निश्चय ही
बहुत बड़ा
बहुत बड़ा यज्ञ हो चुका है यहाँ¨
बहुत बड़ी आहुतियाँ
उसमें हुई हैं।
पर तुमको आने में थोड़ा विलंब हो गया।
ब्रह्मा : किंतु¨
तुम कौन हो?
सर्वहत : मैं?
मैं कौन हूँ?
[भूमि पर चारों ओर देखकर]
मैं कौन हूँ¨?
इस स्थिति में
मुझको यह सोचना पड़ेगा।
[उँगली से माथा ठोकते हुए]
¨शायद मैं राजा हूँ
¨शायद मैं शासन का प्रतिनिधि हूँ
¨या मैं इस राज्य की प्रजा हूँ
¨या शायद मैं कुछ भी नहीं हूँ
और सब कुछ हूँ।
पर तुम क्यों पूछ रहे हो यह प्रश्न
मैंने तो तुमसे कुछ भी नहीं पूछा
माथा उठाकर तुम्हें अब तक
निहारा भी नहीं एक बार।
विष्णु : पर क्यों नहीं निहारा?
सर्वहत : क्यों नहीं निहारा?
शायद¨कुछ तो मेरा स्वभाव
कुछ मेरी अक्षमता
कुछ मेरी ग्रीवा में व्रण हैं
जिसके कारण
गर्दन नहीं उठती।

शायद मैं चाहूँ भी
तो भी यह झुकी हुई गर्दन
अब यों ही रह जाएगी¨
चाहूँ भी
तो भी
यह माथा नहीं उठ सकता¨
चीज़ों को, उनके सामने पड़कर
देखने वाली दृष्टि
मुझे शायद अब
कभी न मिल पाएगी।

ब्रह्मा : संभवतः
इस रक्तपात के रहे हो तुम साक्ष्य।
क्या तुमने
महादेव शंकर
और देवों और दक्ष की सेना का
घमासान युद्ध
स्वयं देखा है?

सर्वहत : युद्ध¨?
और रक्तपात¨?
दक्ष और देव
और शंकर की सेनाएँ¨
ये तुम क्या कहते हो¨
मैंने वह कुछ भी नहीं देखा।
इस दुखांत नाटक का पटाक्षेप
मेरे
मंच पर आने से पूर्व हो चुका था।
सारे दर्शक
सारे अभिनेता
चले जा चुके थे।
मैं तो केवल
निर्देशक की इच्छाओं का अनुचर था :
मात्र भृत्य!
मैं यह नाटक क्यों देखता भला?
मुझसे

या हमसे
यह आशा कब की जाती है
कि हम नाटक देखें
उसमें भाग लें।
हाँ,
पटाक्षेप होने पर
मंच की सज्जा-सामग्री को सँजोने के लिए
किसी भृत्य को आना चाहिए था
मैं यथासमय आया हूँ।

विष्णु : जब तुम इस नाटक में कुछ भी नहीं थे
और कहीं भी नहीं थे
तो फिर यह पीड़ा
या यह परवर्ती प्रभाव
क्यों भोग रहे हो?
[विक्षिप्त-सी धीमी हँसी]

सर्वहत : क्योंकि यह
विधाता के नियमों की विडंबना है।
चाहे न चाहे
किंतु
शासक की भूलों का उत्तरदायित्व
प्रजा को वहन करना पड़ता है,
उसे गलित मूल्यों का दंड भरना पड़ता है।
और मैं मनुष्य ही नहीं हूँ
मैं प्रजा भी हूँ।

इंद्र : अच्छा
अब तुम जाओ,
जाकर विश्राम करो।
...थके हुए लगते हो।

सर्वहत : *(आत्मीयता से फुसफुसाहट के स्वर में)*
थका हुआ नहीं हूँ
बुभुक्षित हूँ...
[विक्षिप्त जैसी धीमी हँसी]
सुनो!
क्या तुम्हारे पास

एक रोटी होगी?

ब्रह्मा : रोटी?

सर्वहत : हाँ रोटी।

जाते-जाते शिव के गणों ने
दक्षिण नगर-द्वार की गुफाओं में छिपे हुए
मुझको भी पकड़ लिया…
मेरे भी तन पर व्रण छोड़ दिए
ये देखो…
[घाव दिखलाता है]
और मैं अचेत हो गया था
…किंतु मैं बुभुक्षित भी था
इसीलिए आँख जब खुली
तो मैं
दो रोटी पाने की आशा में
इतना सब रक्तस्राव सहकर भी
यहाँ तक चला आया।
बोलो…
तुम मुझको रोटी दे सकते हो?
[मौन से उनकी असमर्थता भाँपकर]
अच्छा न सही रोटी…
मदिरा का एक घूँट
[फिर मौन]
वह भी नहीं!
वह भी नहीं!!
फिर तुम क्यों आए हो?
बोलो क्यों आए हो?
जमे हुए रक्त पर
अपनी संवेदना का अमृत छिड़कने?
या केवल दृश्य-परिवर्तन के लिए?
बोलो,
उत्तर दो।
[फिर मौन]
…जाओ
मेरे राजमहल से निकल जाओ

फौरन निकल जाओ
इसी क्षण निकल जाओ
जाओ¨
[वरुण और इंद्र उसकी बातों से कुपित होकर उस पर झपटते हैं किंतु ब्रह्मा और विष्णु संकेत से उन दोनों को रोक देते हैं]
ओह!
अब समझा।
मैं समझ गया
नगर में तुम्हें भी कहीं
मदिरा या अन्न नहीं मिल पाया—
तुम भी यहाँ इसीलिए आए हो।
है ना?
[उल्लास से]
तुम भी बुभुक्षित हो¨
मैं भी बुभुक्षित हूँ¨
हम सब बुभुक्षित हैं¨
ये सारी दुनिया बुभुक्षित है¨।
[विक्षिप्त हँसी हँसते हुए]
खाओ¨खूब खाओ
यहाँ सब कुछ है
सब कुछ है¨।
देखो ये महल हैं
कँगूरे हैं
कलश हैं;
अतिथि-भवन हैं
राजमार्ग हैं¨
इन सबको खा लो
इन सबसे भूख मिट जाती है
इन कलश-कँगूरों को खाकर ही
मेरी
और तुम्हारी
और हम सबकी
क्षुधा शांत होगी
वरना¨

भूखे रह जाओगे
हाँ ऽ ऽ ऽ
[उसी प्रकार गर्दन नीची किए, विक्षिप्त-सी हँसी हँसता हुआ चला जाता है।]

वरुण : देखा प्रभु!
यह व्यक्ति
महादेव शंकर की हिंसा का जीवित प्रतिरूप है।

विष्णु : नहीं वरुण,
यह तो युद्धोपरांत उग आई
संस्कृति के ह्रासमान मूल्यों का
एक स्तूप है—भग्नप्राय
पथ हारा¨।
हिंसा नहीं है इसमें
भय है¨आशंका है।

वरुण : किंतु प्रभु
यह रचना किसकी है?
मेरी या आपकी—
या भगवान ब्रह्मा की—
या देवराज इंद्र की?
यह भी तो महादेव शंकर की कृति है।

विष्णु : कृति यह नहीं है
एक विकृति का फल है।
एक ऐसी मरणासन्न लौकिक परंपरा का,
जिसे
जीवित रखने के लिए
प्रजापति दक्ष ने
यज्ञ नहीं
युद्ध का आयोजन किया था¨

ब्रह्मा : और उस युद्ध में उसने
विधिपूर्वक
अप्रत्यक्ष माध्यम से
महादेव शंकर को निमंत्रण दिया था¨
और आना पड़ा था उन्हें
क्योंकि वे सदैव

ऐसी
कृश परंपराओं के
भंजक रहे हैं।

इंद्र : माना प्रभु
दक्ष का विवेक और ज्ञान
इस परिस्थिति में छूट गया,
उसका अस्तित्व
एक जर्जर परंपरा के
पोषण के यत्नों में लगा हुआ
टूट गया।
पर क्या अब शंकर ने
जो परंपराओं के भंजक रहे हैं
दक्ष को बनाकर माध्यम
हम सबको अपमानित नहीं किया?
युद्ध का निमंत्रण
हमको नहीं दिया?
कंधों पर शव लादे
दक्ष की तरह ही
क्या महादेव शिव भी अब
वैसा ही आचरण नहीं करते?

वरुण : आपको विदित है प्रभु?
शंकर-कैलासनाथ
अपने स्कंधों पर
भगवती सती का अधझुलसा शव लटकाए
गहन मनस्ताप की विषमता से भरमाए
रह-रहकर अब तक भी
वीरिणी-सुता का मुख
देखते, बिलखते हैं।
पर्वत के हिम-मंडित शिखरों पर
काल-सा त्रिशूल गड़ा
व्याकुल-से चरण पुनः
इधर-उधर रखते हैं।
औ' उनके नेत्रों से
अग्नि-वृष्टि जारी है।

इंद्र : *(प्रच्छन्न व्यंग्य से)*
हाँ प्रभु,
वे शिव शंकर!
अविनाशी शिव शंकर!!
देहयुक्त, देहमुक्त
भोग-रोग-हीन, तत्त्वज्ञानी
वे संन्यासी शिव शंकर!
खोकर संतुलन आज
मानवीय पीड़ा के
साधारण पाशों में कस गए।

ब्रह्मा : आह!
देवराज इंद्र!
कैसी विडंबना है
अपने बनाए हुए नियम
हमें डस गए,
निर्माता
निर्मिति के बंधनों में फँस गए!
[क्षणिक विराम]
किंतु बंधु...
समझ नहीं पाता हूँ...
क्यों मेरे सहयोगी शिव शंकर
मृत्यु की क्षणिकता से पीड़ित हैं?
क्यों उनकी कालजयी
दैविक चेतनता पर
लौकिक संवेगों की रेखाएँ अंकित हैं?
क्यों वे पार्थिवता को
कंधों पर लटकाए
ज्ञानवंत होकर भी क्रोधित उद्वेलित हैं?
देवराज!
मैं अब तक सोच नहीं पाया हूँ।
[आवेश में चिल्लाते हुए कुवेर का प्रवेश]

कुवेर : मैं अब तक सोच नहीं पाता प्रभु
महादेव शिव को
क्या गणों और भृत्यों का

यह कुकर्म विदित नहीं?
क्या उनको विदित नहीं
उनके ये अनुचर, गण
वीरभद्र, नंदी औ' वीरमुंड
चंड भैरवीनायक
अथवा कूष्मांड और महालोक
कितनी आचरणहीन रीति से हुए प्रस्तुत
हम देवों के समक्ष!
मैं अब तक सोच नहीं पाता प्रभु,
महादेव शिव के इन भृत्यों ने
उनके अपमान को बढ़ाया है
अथवा प्रतिकार लिया?

विष्णु : कौन?
अलकापति कुबेर?
शिव शंकर के प्रतिवेशी!

ब्रह्मा : कुबेर!
क्या तुमको यह भी मालूम नहीं—
शिव जी ने स्वयं उन्हें भेजा था,
यज्ञ ध्वंस करने
तथा
अपनी प्रिया के आत्मघात की परिस्थिति से
प्रतिकार लेने को!

कुबेर : शिव जी ने भेजा था!
[आश्चर्य से]
असुर-वृत्ति भृत्यों को?
वीरभद्र सदृश अहंकारी को?
भृगु, कश्यप, पैल, गर्ग,
वैशम्पायन, अगस्त्य,
वामदेव, गौतम, त्रिक,
व्यास, अत्रि, ककुपासित,
भरद्वाज जैसे ऋषि-मुनियों की सभा मध्य?
आप और लक्ष्मी-पति जहाँ विद्यमान
वहाँ?
...आपकी अवज्ञा प्रभु,

महादेव शिव द्वारा?
नहीं, नहीं!!

ब्रह्मा : यह सच है।
हर कटुता सत्य न होती हो
पर यह सच है।

वरुण : प्रभु के उद्‌गारों पर
विस्मय औ' प्रश्नचिह्न क्षम्य नहीं
लेकिन प्रभु
अचरज है।
मन होता है
फिर-फिर पूछूँ
क्या यह सच है?

ब्रह्मा : महादेव क्रोधित थे।

वरुण : प्रभु,
क्या यह भी सच है—
न्याय की तुला को अपने हाथों में लिए हुए
महादेव शंकर धर रौद्र रूप
अपने आदेश-विहित भृत्यों से
देव और ऋषि-मुनि-गण
सभी का अनादर
और दक्ष का शिरोच्छेदन करके भी
तुष्ट नहीं?

ब्रह्मा : संभव है।

इंद्र : प्रभु,
जब शिव जैसे उच्चाधिकारयुक्त हस्त
शासन की मर्यादा खो देंगे
तो क्या यह शासन चल सकता है?
शिव के प्रतिशोध की महाज्वाला
आहुति ले चुकी स्वयं दक्ष
और सभी दक्ष-पुत्रों की,
देवों के मान
और ऋषियों की तामस-मर्यादा की,
आप और लक्ष्मी-पति दोनों की
और स्वयं यज्ञ तथा धर्म की¨

क्या यह औचित्यहीन नहीं?
मैं तो यहाँ तक कहूँगा प्रभु,
शिव द्वारा—
जिस-जिस की अवज्ञा हुई है
उसका अपराधी ठहराकर
उन्हें
उचित दंड दिया जाए।
"चाहे वे महादेव हों
आपके समान धर्म-शासक हों
चाहे वे कुछ भी हों"।

कुबेर : लगता है प्रभु,
उनके अंतर के द्वंद्व
और मन के कोलाहल का
अभी शमन नहीं हुआ।
हम उनके कोप से अरक्षित हैं।
मैं उनका प्रतिवेशी होने के कारण
यह निश्चय से कहता हूँ—
कुछ पता नहीं है कब
बम भोले महादेव—
वक्र दृष्टि से निहार,
कर दें संघातक कोई प्रहार।
उनके लिए दंड की व्यवस्था
आवश्यक है।

ब्रह्मा : *(विचलित होकर स्वयं से)*
दंड
और महादेव शंकर को!
आह!
कितना कृतघ्न समय होता है।
किस हद तक अकृतज्ञ!

वरुण : नागरिक न्याय
और सहज अनुशासन के लिए
यह अपेक्षित है
शंकर को दंडित किया जाए।

विष्णु : सुना बंधु!

अपनी सुरक्षा को
शंकर लिए दंड माँगते हैं
अलका-वासी कुबेर।
शासन और सत्ता के नाम पर
नियमों की रक्षा के लिए
देवराज इंद्र चाहते हैं–
शंकर को दंडित किया जाए।
...और वरुण कहते हैं
न्याय की प्रथानुसार
ऐसा आवश्यक है।

किंतु बंधु, बोलो
तुम क्या कहते हो?

ब्रह्मा : मैं क्या कह सकता हूँ;
संभवतः
कुछ भी कह सकने की स्थिति में
संतुलन नहीं मेरा।
शंकर...कैलासनाथ,
जो मेरे साथ-साथ,
सृष्टि के महान्–
और गुरुतम दायित्वों के पालन में
योगदान देते हैं,
पीड़ित हैं।
सोचता हूँ–
यही दंड उनको क्या कम है?
यह क्या कम है कि आज
वे जिस स्थिति में हैं :
क्रोध के बहाने कराहते हैं।
उन्हें किसी सत्य से जुड़े रहने
और टूट जाने का
दुविधायुत भ्रम है।
करते हैं कुछ
किंतु कुछ करना चाहते हैं।
अपनी प्रिया के संदर्भों में

दुहरा जीवन जीते हैं शिव शंकर।
यही दंड उनको क्या कम है
जो बार-बार
कालकूट पीते हैं शिव शंकर।

इंद्र : प्रभु!
चाहे गर्वोक्ति समझ क्षमा करें,
किंतु मुझे लगा
आप इस क्षण में अनायास,
स्वयं उसी मानवीय पीड़ा से हैं उदास,
पराभूत,
जिससे शिव शंकर हैं।

विष्णु : देवराज इंद्र!
मित्र,
साधुवाद।
सत्य कहा।
कुछ क्षण तक मैं भी
उस पीड़ा के साथ रहा।
हम भी अपवाद नहीं।
हम भी तो भूल-चूक करते हैं कहीं-कहीं।
[हँसकर]
देखो तो,
ब्रह्मा ने रची स्वयं यह बाधा,
मानवीय नियमों की रचना में इन्होंने ही
ऐसी आसक्ति को
महत्त्व दिया है ज़्यादा।

इंद्र : इसीलिए प्रभु,
शंकर को दंड की व्यवस्था पर
होकर निस्संग नहीं सोच सके।
खुद उनकी पीड़ा से पीड़ित हैं।
लेकिन प्रभु!
ऐसे संदर्भ के धरातल पर
हम सब हैं एक।
हम अपने शब्द और अपना प्रस्ताव
आज वापस ले लेते हैं।

आपको विदित ही है
चिंतन को दिशा
या समस्या को समाधान देने के लिए
थोड़ी तटस्थ और वस्तुपरक दृष्टि की
अपेक्षा करता है विवेक।

कुबेर : हम इस विषय पर
फिर बातें करेंगे प्रभु!
¨क्योंकि
¨ब्रह्मा जी थोड़े अस्वस्थ लग रहे हैं आज
क्या हम उनकी कोई सेवा कर सकते हैं?

ब्रह्मा : धन्यवाद बंधु!
मुझे कष्ट नहीं
थोड़े विश्राम की अपेक्षा है।
चाहो तो अब तुम जा सकते हो।
[कुबेर, वरुण तया इंद्र ब्रह्मा को प्रणाम कर विष्णु की ओर जाने की मुद्रा में उन्मुख होते हैं]

विष्णु : किंतु
सुनो देवराज,
तुम तीनों का समाज
अपनी मर्यादा के यथायोग्य
होकर निस्संग
और शंकर से वैमनस्य
पूर्वाग्रह त्याग आज
मेरे
एक प्रश्न पर विचार करे
और मुझे बतलाए—
तत्त्वज्ञान-वेत्ता उन महाबोधि शंकर की
आत्मा क्यों रोती है?
क्यों वे यह भूल गए
कारण,
या निमित्त
या परिस्थितियाँ नहीं,
सिर्फ मृत्यु सत्य होती है?
और यह कि

किस प्रकार
उनको इस पीड़ा से निष्कृति मिल सकती है?

इंद्र : प्रभु!
हम उत्तर देंगे
यथाशक्य सार्थक औ' सही
किंतु
चिंतन को थोड़ा अवकाश मिले।

वरुण : प्रभु,
हमको समय मिले।

कुबेर : अपने अस्तित्व की सुरक्षा का
शंकर से अभय मिले।
शायद इस प्रश्न पर विचार हेतु
हमको कैलास-लोक जाना हो।

विष्णु : *(दायाँ हाथ उठाकर)*
एवमस्तु
एवमस्तु
उत्तर की
करेंगे प्रतीक्षा हम।

[तीनों देवगण विनत होकर चले जाते हैं]

ब्रह्मा : *(माथे पर रखा हाथ उठाते हुए)*
आह बंधु!
शंकर की पीड़ा पर
मन भर-भर आता है।
क्यों आखिर?
क्यों आखिर?
मेरा कुंठित विवेक सोच नहीं पाता है।
क्या इससे त्राण नहीं पाऊँगा?
यों ही घुट-घुटकर अकुलाऊँगा
क्या मैं भी यों ही मर जाऊँगा?

सर्वहत : *(लड़खड़ाते हुए प्रवेश करता है)*
हम सब मर जाएँगे एक रोज़
पेट को बजाते
और भूख-भूख चिल्लाते
हम सब मर जाएँगे एक रोज़...

—ठूँठें रह जाएँगी
साँसों के पत्ते झर जाएँगे एक रोज़...
[रुककर फुसफुसाते हुए]
सुनो,
मैं तुमको सावधान करने ही आया हूँ।
वे तीनों लोग
अभी थोड़ी देर पहले जो शोर-सा मचाए थे,
और अभी गए हैं,
वे तुमको खाने के लिए यहाँ आए थे।
मैं छिपकर सूँघ रहा था उनको।
वे तीनों भूखे थे।
उनकी आवाज़ों में भूख लिखी हुई थी।
काश...
मैं उनके चेहरों की लिखावट पढ़ पाता।
यों भूखा होना
कोई बुरी बात नहीं है,
दुनिया में सब भूखे होते हैं
सब भूखे...
—कोई अधिकार और लिप्सा का
—कोई प्रतिष्ठा का,
—कोई आदर्शों का,
और कोई धन का भूखा होता है...
ऐसे लोग अहिंसक कहाते हैं
मांस नहीं खाते
मुद्रा खाते हैं...।
[हँसता है]
किंतु बंधु
जीवन की भूख
बहुत कम लोगों में होती है।
वहोऽऽत कम में...
तुम
जीवन की भूख का मतलब समझते हो?
[हँसते हुए]
तुम कुछ नहीं समझते

बहुत भोले हो…
ज़रूर भले आदमी हो
ऐसे ही लोगों में
…जीवन की भूख हुआ करती है।
[सहसा विष्णु के पाँवों की ओर देखकर]
और यह भी
जो निकट आ रहा है
ज़रूर भला आदमी है,
भूखा है,
है ना?
हर भला आदमी
ज़रूर भूखा होता है।
[पागलों की तरह लड़खड़ाकर मंच पर घूमता है]
आओ!
आओ मेरे बच्चो!
निकट आओ
आओ मुझसे सट जाओ…
जब तक ये महल
ये सोने के कलश और कँगूरे
और ये राजमार्ग
हमारे खाने के लायक बनें
तब तक तुम
—मुझको ही खाओ।
आओ मेरे बच्चो!
डरो मत
आओ।
[आत्मीयता से धीरे-धीरे]
हाँ
देखो,
पहले मेरा दिल निकालकर खाना
फिर दोनों हाथ…
इन्होंने मुझे
बहुत कष्ट दिया;
ये अगर न होते तो यह जीवन

बड़ी सुगमता से जिया जाता।
··हाँ
फिर थोड़ा-सा
अपनी उँगलियों का मांस
मुझको भी दे देना।
[ब्रह्मा और विष्णु उसकी दयनीय दशा पर कातर भाव से एक-दूसरे की ओर देखते हैं]
अरे!
ये तो बोलते नहीं
हिलते-डुलते भी नहीं
शायद खड़े-खड़े मर गए
झर झर झर
साँसों के सब पत्ते झर गए
··खड़े-खड़े मर गए–
··बेचारे–
भूख के मारे!
चः चः चः।
किंतु
मैं अकेला रह गया हूँ अब
बिलकुल अकेला
पूरे नगर में अकेला··
आह!
इन राजमहलों से मोह
अब तोड़ना पड़ेगा मुझे
बहुत शीघ्र अब
यह नगर छोड़ना पड़ेगा मुझे
वरना क्या खाऊँगा और क्या पियूँगा यहाँ?
छोड़ना··
ग्रहण करके
छोड़ना
कितना कठिन होता है
आह!
[सर्वहत लड़खड़ाता हुआ जाने लगता है और उसी के साथ परदा गिरता है]

दृश्य : तीन

शंकर :

देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया¨?
निर्वासन!
प्रेयसि-वियोग!!

हर परंपरा के मरने का विष
मुझे मिला,
हर सूत्रपात का श्रेय
ले गए और लोग।

¨मैं ऊब चुका हूँ
इस महिमा-मंडित छल से¨।

[स्थान : हिम-मंडित कैलास-पर्वत का एक शिखर, जहाँ अपनी पत्नी सती के अपार शोक में मग्न विश्रांत-से महादेव शंकर अपने कंधे पर उसका शव रखे हुए दुःख में निमग्न-से खड़े हैं]

शंकर : *(स्वगत)*
आह, शोक ने मुझे
अचीन्ही स्थितियों से जोड़ दिया,
महाशून्य के अंतराल में
निपट अकेला छोड़ दिया,
सारा धीरज सोख लिया है
सारा रक्त निचोड़ दिया,
प्रिया-हीन व्यक्तित्व-विखंडित
जगह-जगह से तोड़ दिया।
[सती के अस्त-व्यस्त केशों को अपनी उँगलियों से सहलाते, जैसे उससे बातें करते हुए]

प्रिया-हीन संसार
और मैं देख रहा हूँ!
अपने जीवन पर
तम का विस्तार
और मैं देख रहा हूँ!
ये अपने से ही
अपने की हार
और मैं देख रहा हूँ!
[सहसा कंधे पर पीछे की ओर झुका हुआ सती का मुख अपने सामने कर लेते हैं और उसे देखकर अपने ही प्रति कुपित और क्षुब्ध हो उठते हैं]
धिक् मेरा देवत्व!
कि जिसकी कायर गाथा,
धिक् मेरी सामर्थ्य!
कि जिसने टेका माथा,
धिक् मेरा पुंसत्व!
कि जिसका बोध अधूरा,
धिक् मेरा जीवन!
जिसका प्रतिशोध अधूरा।
[दाँत पीसते हुए बेचैनी से मंच पर इधर-उधर टहलते हैं, फिर तड़पकर सती के शव की ओर संकेत करके खड़े हो जाते हैं]
जिस भाषा में
मिला मुझे यह प्रश्न भयंकर।
मुझे उसी भाषा में
देना होगा उत्तर!
[एक पल रुककर]
संप्रति बस प्रतिकार
देव, ऋषि, दानव सबसे।
आह! तीसरा नेत्र
रक्त का प्यासा कब से।
[तभी नेपथ्य से शंकर-स्तुति के स्तोत्र सुनाई पड़ते हैं—जो देर तक चलते रहते हैं। उन्हें सुनकर शंकर के मनोभावों में कुछ परिवर्तन होता है और उनकी उद्विग्नता तथा आवेश कम होता हुआ कौतूहल में बदल जाता है]

वरुण का स्वर : देवदेव महादेव लौकिकाचार कृत्प्रभो
ब्रह्म त्वामीश्वरं शंभुं जानीमः कृपया तव
किं मोहयसि नस्तात मायया परया तव
दुर्ज्ञेयया सदा पुंसां मोहिन्या परमेश्वर
प्रकृतेः पुरुषस्यापि जगतो योनिबीजयोः
परब्रह्म परस्त्वं च मनोवाचामगोचरः
त्वमेव विश्वं सृजसि पास्यत्सि निजतंत्रतः
सर्वकर्मफलानां हि सदा दाता त्वमेव हि
भगवन् परमेशान कृपां कुरु पर प्रभो
नमो रुद्राय शांताय ब्रह्मणे परमात्मने।

[नेपथ्य में इस संस्कृत स्तोत्र के ऊपर एक अन्य उद्‌घोषक इसका हिंदी अनुवाद भी प्रस्तुत करता है]

हिंदी उद्‌घोषक : हे देव-देव महादेव! हे लौकिक
आचार करने वाले महाप्रभो! हम सब
आपकी कृपा से, आपको ब्रह्म, ईश्वर
तथा शिव जानते हैं। हे तात! परमाया
से आप हमको क्यों मोहित करते हैं।
हे महेश्वर! वह आपकी मोहिनी
माया प्राणियों को सदा दुर्ज्ञेय है।
जगत के योनि बीज प्रकृति पुरुष
से भी आप परे हैं। मन, वचन,
इंद्रियों से परे, आप मन, वाणी
से भी परे हैं। आप ही विश्व
को उत्पन्न कर फिर पालन करते हैं।
सब कर्मों के फल देने वाले सदा
आप ही हैं। हे भगवन्, हे परमेश्वर!
अब आप देवताओं पर कृपा करें।
हे रुद्र, शांत, ब्रह्म, परमात्मा, आपको
प्रणाम है।

कुबेर का स्वर : नमस्ते भगवन् रुद्र भास्करामित तेज से
नमो भवाय देवाय रसायांबुमयाय ते
वीरात्मने सुविद्याय श्रीकंठाय पिनाकिने
नमोनंताय सूक्ष्माय नमस्ते मृत्युमन्यवे

दयासिन्धो महेशान प्रसीद परमेश्वर
रक्ष-रक्ष सदैवास्मान् भस्मान्नष्टान् विचेतसः
रक्षितः सततं नाथ त्वयैव करुणानिधे
नाना पद्म्यो वयं शंभो तथैवाद्य प्रपाहि नः
यज्ञस्योद्धकरणं नाथ कुरु शीघ्र प्रसादकृत्
असमाप्तस्य दुर्गेश दक्षस्य च प्रजापतेः।

हिंदी उद्घोषक : हे रुद्र, हे भास्कर, हे अमित तेजस्वी!
आपको प्रणाम है। वीरात्मा श्रेष्ठ बुद्धि
वाले श्रीकंठ पिनाकधारी अत्यंत सूक्ष्म-
रूप मृत्यु क्रोधरूप! आपको प्रणाम है।
हे दयासागर महेशान परमेश्वर! अब आप
प्रसन्न होकर हमारी रक्षा करें, क्योंकि हम
विनश्वर हैं। हे करुणानिधान, करुणासागर,
आप सदा हमारी रक्षा करें। हे शंभु!
अनेक आपत्तियों से आपको हमारी रक्षा
करनी चाहिए। हे नाथ! कृपा कर शीघ्र
ही यज्ञ का उद्धार कीजिए। हे दुर्गेश!
प्रजापति दक्ष के यज्ञ की समाप्ति नहीं है।

शंकर : *(स्तोत्रों की समाप्ति पर शंकर विस्मित, आशंकित और फिर आवेशयुक्त हो उठते हैं)*
ये कौन?
कौन, कैलास-शिखर पर
अनाहूत आया?
ये किसका स्वर है
जो मेरे निश्चय से टकराया?
स्तुति करता
सामने नहीं आता है
बचता है।
ये कौन मुझे
सम्मोहित करने को
छल रचता है।

वरुण : *(मंच के दक्षिण भाग से प्रकट होते हुए)*
हे पारब्रह्म!

कैलासनाथ!
हे कालजयी!
हे कालकूट विषपायी स्रष्टा
अष्टनाम!
मैं वरुण आपके चरणों में
करता प्रणाम।

शंकर : *(वरुण की ओर ईषत् घृणा से)*
मैं पारब्रह्म?
कैलासनाथ!
मैं निर्माता?
मैं कालजयी व्यक्तित्व?
स्वयंभू महादेव!
ये सारे संबोधन
हैं कितने क्रूर व्यंग्य!
जो करते आए हैं मेरे संग
छल सदैव।
[तभी उनके पीछे-पीछे कुबेर प्रकट होते हैं]

कुबेर : हे सर्वारंभ प्रवर्त्तक
धाता, प्रपितामह!
हे ओंकार!
हे वषट्कार!
हे स्वधाकार!
त्रिगुणात्मा, निर्गुण,
प्रकृति-पुरुष से परे शंभु,
हे सकल प्रजापतियों के स्रष्टा, नमस्कार।
मैं हूँ कुबेर,
आपका दास।

शंकर : *(व्यंग्य से)*
तुम दास समझते हो
मैं मित्र समझता था।

कुबेर : ये महादेव
देवाधिदेव की अनुकंपा।

शंकर : संबोधन
और सर्वनामों की सृष्टि रोक,

उत्तर दो
मेरे एक प्रश्न का मित्र मान
दक्ष के यज्ञ में
आमंत्रित थे सभी देव;
ा किंतु उपेक्षित मैं,
पर तुमने दिया ध्यान?

कुबेर : आपकी अवज्ञा
प्रभु!
मुझको भी बहुत खली,
सोचा था
दूँ दक्ष को क्रुद्ध हो, कठिन श्राप।
··फिर सोचा–
यह तो बात बहुत साधारण है;
देवत्व और आदर्शों से
परिपूर्ण आप!

शंकर : *(उसी व्यंग्य से)*
देवत्व और आदर्शों का परिधान ओढ़
मैंने क्या पाया?
निर्वासन!
प्रेयसि-वियोग!!
[गहरी पीड़ा से]
हर परंपरा के मरने का विष,
मुझे मिला,
हर सूत्रपात का
श्रेय ले गए और लोग।
[क्षण-भर रुककर]
मैं ऊब चुका हूँ
इस महिमामंडित छल से,
अब मुझे स्वयं का
वास्तव-सत्य पकड़ना है,
जिन आदर्शों ने
मुझे छला है कई बार
मेरा सुख लूटा है
अब उनसे लड़ना है।

[फटकारते हुए]
बोलो
क्यों आए हो?
क्या और अपेक्षित है?

कुबेर : हे शिव शंकर
आपकी कृपा है औ' मेरा सौभाग्य,
चराचर
मुझे आपका मित्र मानकर चलते हैं।
फिर अलकापुरी निकट ही है,
कैलास-धाम के स्वामी का
प्रतिवेशी होने के कारण
इतना अधिकार समझता हूँ,
जो बिना प्रयोजन
बिना अपेक्षा आ जाऊँ।
[स्वर बदलकर]
हे महादेव!
भगवती सती की पीड़ा में
आपाद-मग्न
आपको देख,
मेरा भी हृदय कचोट उठा।
मैं मात्र सहज कर्तव्य
और संवेदन-वश ही आया हूँ।

शंकर : कर्तव्य तुम्हारा
धन-संचय से इतर
और भी है कोई?
यदि है तो, हे धनपति कुबेर!
यह है कुयोग;
मैं तो समझा था
धन के दृष्टि नहीं होती
भावना-शून्य हो जाते हैं
धनवान लोग।
आत्मस्थ बना देती है सत्ता मित्रों को
आचरण बदलते जाते हैं उनके क्षण-क्षण,
अपनत्व खत्म हो जाता है,

बच रहता है थोड़ा-सा शिष्टाचार
और औपचारिकता,
प्रभुता का ऐसा ही होता आकर्षण।

वरुण : यह कोरा शिष्टाचार नहीं
यह औपचारिकता नहीं प्रभो!

कुबेर : सचमुच
यह शिष्टाचार नहीं;
भावना-भरा संवेदनशील हृदय
हम कैसे दिखलाएँ?
कैसे बतलाएँ यह कि आज
कर्तव्य-विवश हो
सहज
मित्र के नाते ही हैं हम आए।

शंकर : *(अकस्मात् उत्तेजित होकर)*
बंद करो अपना प्रलाप अब।
बार-बार संवेदन
अथवा कर्तव्यों की बात उठाते,
बार-बार ये कहना—
मैं तो आया यहाँ मित्र के नाते,
ग्लानि नहीं होती है तुमको?
डूब नहीं मरते हो
अंजुलियों के जल में।
[गहरी पीड़ा से]
मित्र अगर होते तुम
मेरा अपयश या अपमान न होता,
या तो यज्ञ न होता
अथवा ऐसा कल्कि-विधान न होता।
मित्र अगर होते तुम
मेरी आत्मा यों विद्रोह न करती,
भरी सभा में मेरी प्रिया
निरादृत होती और न मरती।
[प्रिया शब्द के उच्चारण मात्र से उनका कंठ भारी हो उठता है और तुरंत कंधे पर पड़ा शव निहारने में तल्लीन होकर वे वस्तुस्थिति को भूल-से जाते हैं]

शंकर : *(कुछ क्षण बाद)*
आह!
कैसे पी सका यह फूल-सा तन ज्वाल!
लोग कैसे देख पाए दृश्य वह विकराल!
[कुछ समझने का प्रयत्न करते हुए]
ओह!
देवों ने रची यह
दुरभिसंधि विरुद्ध,
और इसका अर्थ...
केवल युद्ध...
केवल युद्ध...!!
[आवेश में कुबेर और वरुण की ओर से उसी प्रकार मुँह फेरे, घूमते हुए जैसे किसी निर्णय पर पहुँचते हैं]
संप्रति केवल
बल की भाषा
शक्ति-प्रदर्शन,
संप्रति केवल
युद्ध, व्यूह-रचना,
अरि-मर्दन,
ओ मेरे आत्मज योद्धाओ,
अरे अभागो,
ओ डाकिनियो, शाकिनियो
ओ प्रेतो! जागो!
जागो वीरभद्र, त्वरिता
पर्पट ईशानी,
जागो शंकुकर्ण, गुह्यक,
वैष्णवी, भवानी।
कंकराक्ष, दुद्रम,
विष्टंभवीर, संदारक,
पिप्पल, आवेशन,
आदित्यमूर्ध, संतानक,
जागो कात्यायनी
भद्रकाली, सर्वांकक।
समद, काकपादोदर

कुंडी, प्रमथ भयानक।
कपालीश, कूष्मांड
और भैरव सन्नाधो,
उठो, तुरंत संकेतों पर
ब्रह्मांड हिला दो'''

[शव को सीने से लगाकर शंकर मंच से जाने को उद्यत होते हैं]

वरुण : *(फुसफुसाकर)*
देख रहे हो मित्र,
त्रिलोकी शिव पर
हिंसा की छाया है।
नेत्र तीसरा
शायद खुलने ही वाला है।

कुबेर : *(उसी स्वर में)*
उसका समय नहीं आया है;

शंकर : *(मंच से जाते हुए)*
चलो
अलकनंदा की ओर चलें अब प्रेयसि!
वहाँ तुझे मैं
स्नान कराऊँगा उस जल में,
फिर चंदन से माँग भरूँगा।
वन्य प्रसूनों से मैं अपनी
प्रेयसि का शृंगार करूँगा।
फूट-फूटकर रोऊँगा कुछ देर वहाँ पर।
फिर बाँहों में तुझे उठाकर,
हृदय लगाकर,
सुधियों का आह्वान करूँगा
फिर तुझको लेकर
मैं वन के हर उस कोने में विचरूँगा—
तेरे साथ जहाँ
जीवन के
सर्वोत्तम क्षण मैंने भोगे।
चलो'''अलकनंदा की ओर चलें अब प्रेयसि!

[शव को सीने से चिपटाकर शंकर मंच से चले जाते हैं]

कुबेर : शिव शंकर को
दक्ष-सुता से गहन मोह है।
देख रहे हो!

वरुण : पर अलकापति!
ऐसा भी क्या मोह
कि शव को चिपटाए फिरते हैं तन से!
...क्या तुमको
दुर्गंध नहीं आई उस क्षण से?
मैं तो खड़ा नहीं रह पाया
पास निमिष भर।

कुबेर : और मुझे भी लगा
कि हमको क्यों भेजा है देवराज ने?
यही देखने?
...किंतु मुझे बातें करनी थीं।
यदि मैं अरुचि प्रदर्शित करता
शव से
या दुर्गंध मात्र से,
तो हम दोनों
महाकोप के भाजन बनते,
देवलोक वापस जा पाना
बहुत कठिन था।

वरुण : किंतु बताओ तो कुबेर,
क्या मोह
ज्ञान को,
इतना अंधा कर देता है,
जो कि मृत्यु को भी हम
सत्य नहीं कहते हैं।
परिवर्तन पर होते हैं
विक्षुब्ध हृदय में,
सुंदर और सनातन कहकर
शव से ही चिपके रहते हैं।

कुबेर : शायद ऐसा ही होता है।
इसीलिए संभवतः जग में
जब परंपरा का खंडन कर

कोई नया मूल्य उठता है—
लोग उसे मिथ्या कहते हैं।
और जहाँ तक,
जब तक संभव हो पाता है
मृत परंपरा के शव से चिपके रहते हैं।
पूजा के घड़ियाल बजाते
भाव-लहरियों में बहते हैं।

वरुण : लेकिन कब तक?
थोड़े दिन पश्चात् भावना मर जाती है,
या दुर्गंध,
समूचे युग में भर जाती है।

कुबेर : अब तुम सोचो।
यह दुर्गंध
जिसे शंकर ने ओढ़ रखा है,
जिसको हमने पल-भर भोगा,
कितनी कटु है!
कितनी विषमय!!
सारे युग में फैल गई यदि,
तो क्या होगा?

वरुण : हमको क्या
कुछ भी हो जाए।
जब सृष्टि के नियंता होकर
स्वयं शंभु ही
अपने रचे हुए नियमों की करें अवज्ञा
रक्षक ही भक्षक हो जाए
तो कोई क्या कर सकता है?
हाँ, यह विष,
हम अपनी ओर न आने देंगे।

कुबेर : *(अपेक्षाकृत धीमे स्वर में इधर-उधर देखते हुए)*
धीरे बोलो
शायद शिव शंकर आते हैं।

[तभी मंच के एक कोने में प्रकाश पड़ता है, जिसमें शंकर का आगमन होता है। अब शव उनके कंधे पर नहीं, बल्कि सामने खुली हुई दोनों बाँहों पर रखा है और पुष्पों से सज्जित है]

कुवेर : *(धीरे से)*
महादेव शंकर आते हैं।
मेरुमाल-सी
सन्मुख खुली भुजाओं पर
सज्जित शव धारे,
जिससे मेघों जैसे केश लटकते नीचे—
हिम पर ऐसे फिसल रहे हैं
जैसे मध्याह्न में धरा पर
तार-तार हो कँपती-कँपती
निशा गिर पड़े।
[शंकर खोए हुए, विंग से कुछ और आगे आ जाते हैं और सती का झुलसा हुआ मुख सीधा करके देखते हैं, जो फिर दर्शकों की ओर हो जाता है]
कुवेर : लो, अक्षत सौंदर्य-शालिनी
सती भगवती का मुख देखो।
...कुछ पहचाना?
[रुककर]
बोलो,
क्या ये वही रूप है,
जिसे देखकर पूर्ण चंद्र की
सभी कलाएँ छिप जाती थीं?
...जिसे देखकर स्वयं-सिद्ध प्रभु
ब्रह्मा का मन डोल गया था,
जिसका पा स्पर्श
मुखर हो जाती जड़ताएँ थीं।
बोलो
क्या ये वही रूप है?
वरुण : *(सिहरकर)*
आह!
नहीं देखा जाता है यह परिवर्तन!
ऐसी विकृति!
झुलसे हुए रूप का ऐसा
कटु अपकर्षण!

मित्र बताओ,
महादेव यदि अपने तप से
और तेज से,
आग्रहवश
भगवती सती के
शव में प्राण-प्रतिष्ठा कर दें,
तो भी क्या यह रूप
भोगने योग्य रहेगा?

कुबेर : *(अधर पर उँगली रखकर फुसफुसाते हुए)*
चुप हो जाओ!
वह देखो…
गाते-चिल्लाते
महादेव शंकर आते हैं।

[तभी शंकर, महाशोक से ग्रस्त, कोने से मंच के अग्रभाग के प्रकाश में आते हैं]

शंकर : आह प्रिया!
अब क्या रह गया शेष?
सूना-सा लगता है
सारा कैलास-देश।
नंदा का मलिन वेश।
हिम तक पर व्याप्त क्लेश।
सारे संदर्भ व्यर्थ,
जीवन का कुछ न अर्थ,
अब ऐसा एक नहीं
जो मेरे भाव ग्रहण करने में
हो समर्थ।

आह प्रिया!
मेरा हर एक शब्द
था तुझको पूर्ण वाक्य।
मेरे हित
तूने क्यों राज्य भोग त्याग दिया?
नंदा-व्रत पूर्ण किया?
क्यों मुझसे

मुझको ही माँग लिया?
···फिर मेरा हाथ छोड़
अधबर में साथ छोड़
चली गई···
[क्रोध में सिसकते हुए]
बता मुझे,
बोल तनिक,
कौन-सी परिस्थिति थी
जिससे तू छली गई ?
[दाएँ हाथ में त्रिशूल उठाकर]
प्राण प्रिया!
तुझको यदि संध्या तक
मिली नहीं चेतनता,
यदि तुझसे यह विछोह, चिर होगा,
तो मैं सच कहता हूँ
महाकाल का तांडव फिर होगा;
तो तीनों लोकों में
मज्जा दिखेगी नहीं
केवल रुधिर होगा
···और प्रिया!
तेरे इन चरणों में
शीघ्र उस परिस्थिति का
उसके नियंता का शिर होगा।

कुबेर : *(घबराकर, तेज़ी से)*
महादेव कृपा करें!
शोक तजें।
आपकी व्यथा से आंदोलित है
सप्त-सिंधु।
दृष्टिगत नहीं होती आज कहीं···

शंकर : *(जैसे परिस्थिति से अवगत होते हुए)*
कौन?
अलकापति!
तुम अब तक गए नहीं?
[क्षणिक विराम]

मन में अविनिश्चित संकल्प ठान,
जाने किस क्षण से प्रेरित अजान,
अभय दे दिया था तुमको मैंने।
तुम अब तक गए नहीं?
मेरे प्रति सहानुभूति चुकी नहीं?

कुबेर : महादेव!
मुझे भले कुछ समझें।
लेकिन मैं मनस्ताप
आपका समझता हूँ।
आपकी मनःस्थिति से
चिंतित है देवलोक।

शंकर : *(घृणा से)*
देवलोक!
देवलोक!! देवलोक!!!
जो कि इस परिस्थिति का
नाथ है, नियंता है।
मृत्यु का निमित्त
और प्रेयसि का हंता है।
मैं उसको क्षमा नहीं कर सकता¨

वरुण : प्रभु!

शंकर : *(गरजकर)*
जाओ तुम!
पल-भर में त्यागो कैलास-भूमि
अन्यथा इसी क्षण
मैं तुम्हें भस्म करता हूँ।
[वरुण और कुबेर घबराकर पार्श्व की ओर भागते हैं]

शंकर : *(त्रिशूल उठाकर उन्हें रोकते हुए)*
ठहरो!
हाँ, कह देना विष्णु और ब्रह्मा से,
संध्या तक
सती में न आई यदि चेतनता
तो मेरा क्रोध देव भोगेंगे।
¨रुधिर वमन करेंगी दिशाएँ दश
आवर्ती पवन आग उगलेंगे,

चूर्ण-चूर्ण होंगी गिरि-मालाएँ,
सिंधु सूख जाएँगे।
कह देना—
होगा दिग्दाह रुधिर वर्षण के साथ-साथ
पूरा ब्रह्मांड भस्म कर दूँगा।
[अट्टहास]
[वरुण और कुबेर तेज़ी से जाते हैं और शंकर त्रिशूल की टेक लगाकर एक टाँग पर खड़े होकर डमरू बजाने लगते हैं]

शंकर : *(उसी अट्टहास के साथ)*
डमर-डमर बजने दो डमरू
जब तक शक्ति विकास न पाए
जब तक मेरी मृतक प्रिया के
शव में वापस साँस न आए।
[ज़ोर से बजाकर]
डमर-डमर बजने दो डमरू
होने दो तांडव त्रिलोक में,
महादेव की प्रतिहिंसा भी
देखे देव-समाज शोक में।
[डमरू की आवाज़ उभरकर धीरे-धीरे मंद पड़ जाती है और परदा गिरता है]

दृश्य : चार

ब्रह्मा :

पर यदि मुझसे करो अपेक्षा
तो मैं अपने मुँह से
सेना को आदेश नहीं दे सकता।
मैं पहले ही बता चुका हूँ
यह सामूहिक-आत्मघात है।
इसके पीछे कोई जीवन-दृष्टि नहीं
केवल आग्रह है।

¨प्राणों की आहुति
युद्ध के नहीं
सत्य के लिए होती है।

[स्थान : ब्रह्मा के भवन का एक कक्ष जिसमें इंद्र सेनापति के वेश में युद्ध करने के लिए भगवान् ब्रह्मा की अनुमति लेने आए हैं]

इंद्र : हाँ! युद्ध के सिवा
अब कोई भी विकल्प अवशेष नहीं है।
महादेव शिव शंकर अपनी पूर्व-नियोजित
डाकिनियों, शाकिनियों, प्रेतों और गणों की
सेना लेकर
देवलोक की सीमाओं पर चढ़ आए हैं।
प्रभु!
आज्ञा दें,
महादेव शंकर का पूजन अब युद्धस्थल में ही होगा।

ब्रह्मा : देवराज!
तुम कृत-निश्चय हो?
सब परिणाम विचार लिए हैं?

इंद्र : प्रभु, परिणामों पर क्या सोचूँ?
हानि-लाभ के संदर्भों में
मान और मर्यादाओं के प्रश्न नहीं परखे जाते हैं।

ब्रह्मा : मान और मर्यादा पर तुम
थोड़ी गहराई से सोचो।
किसी व्यक्ति के अपशब्दों से
याकि अकारण तुमको अपमानित करने से
क्रोधित होने से अथवा क्रोधित करने से
किसका मान भग्न,
¨किसकी मर्यादाएँ खंडित होती हैं?

इंद्र : स्वयं उसी की जो ऐसा आचरण करेगा।

ब्रह्मा : फिर तुम अपने मान
और मर्यादाओं के प्रति शंकित क्यों?

क्यों सेनाएँ सजा रहे हो?

इंद्र : मात्र एक व्यक्ति की नहीं प्रभु,
यह शासन की मर्यादा है।
प्रभु, शत्रु के समक्ष शस्त्र से
यदि मैं आज न उत्तर दूँगा,
तो त्रिलोक में
मैं कायरता के अपयश का भागी हूँगा।
क्या शासक का धर्म
प्रजा की रक्षा करना नहीं...?

ब्रह्मा : और प्रजा की रक्षा करे युद्ध के द्वारा?
और प्रजा का रक्त बहाए...
क्षण में सब चिन्मय सौंदर्य रुधिरमय कर दे,
गायन-गुंजित नगर चीत्कारों से भर दे,
जन-विवेक को
वध की बलिवेदी पर धर दे,
यह भी शासक के कर्तव्यों में अंकित है?
[एक सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : देवराज!
शिव की गण-सेना
निकट आ रही है क्षण-प्रतिक्षण
वह देखें कोलाहल बढ़ता ही आता है।
[पृष्ठभूमि में कोलाहल]
तेरह सन्निपात
सौ ज्वर की ज्वाला वाला
दो सहस्र भुजधारी
पामर, अत्याचारी
वीरभद्र उसका नायक है।
और हमारी सारी सेना
उद्यत और प्रतीक्षारत है।
क्या आज्ञा है?

ब्रह्मा : *(सोचते हुए)*
उनसे कह दो ठहरें!
और निकट आने दें महादेव की सेना।

सैनिक : जैसी आज्ञा।

[विनत होकर चला जाता है]

इंद्र : देखा प्रभु!
महादेव की महाशक्ति का दंभ निहारा?
...जैसे हम कृमि-कीट सदृश हों
और धमनियों में हम सबकी
रक्त नहीं पानी बहता हो।
मैं कहता हूँ
सहनशीलता की कोई सीमा होती है।
अब आज्ञा दें,
—आत्म-सुरक्षा है विधान में
जन्मजात अधिकार सभी का।

ब्रह्मा : मैं आज्ञा दूँ?
लेकिन मैं तो आत्मघात को
आत्मसुरक्षा नहीं समझता।

इंद्र : आत्मघात?

ब्रह्मा : हाँ, आत्मघात,
वह भी सामूहिक!
मेरे अपने ज्ञानकोश में
युद्ध शब्द का यही अर्थ है।

इंद्र : किंतु पराजय के कारण मैं नहीं देखता।
मेरे पास शस्त्र की कोई कमी नहीं है,
मेरे पास अन्न की कोई कमी नहीं है,
मेरे पास वस्त्र की कोई कमी नहीं है,
और न मेरे योद्धाओं का क्षीण मनोबल,
और न मैं आक्रामक
मैं तो संरक्षक हूँ

ब्रह्मा : लेकिन किसके संरक्षक हो?

इंद्र : देवलोक का।

ब्रह्मा : देवलोक के नहीं
सत्य के संरक्षक को जय मिलती है।

इंद्र : *(व्यंग्यपूर्वक)*
और सत्य के संरक्षक वे शिव शंकर हैं
जो कि एक शव के कारण
लड़ने को उद्यत!

न्याय माँगता है जिनका अन्याय अप्रतिहत!
इसीलिए आपके न्याय की तुला
उधर है!
[आवेश में आकर]
लेकिन क्षण-भर
पक्षपात से ऊपर उठकर यह बतलाओ,
मेरी ओर नहीं है
तो फिर सत्य किधर है?
[सहसा दो सैनिक तेज़ी से प्रवेश करते हैं]

एक सैनिक : देवराज!
महादेव शंकर की सेनाएँ
सीमा में दूर तक चली आईं।
अगणित घर उजड़ गए
धरती हो गई लाल।
शासन को कोसती हुई जनता पागल है।
वह देखें
नारों की आवाज़ें बढ़ती ही आती हैं।
[नारों की अस्पष्ट आवाज़ें]

दूसरा सैनिक : देवराज!
मंत्र-नाद करते
शिव शंकर हैं स्वयं साथ,
भू-कंपित
नक्षत्रों की गति है वक्र नाथ!
हमको क्या आज्ञा है?
योद्धा आदेश-विवश विह्वल हैं।

ब्रह्मा : सेना से कह दो वह शांत रहे
युद्ध के ही प्रश्न पर विचार कर रहे हैं हम।

दोनों सैनिक : जो आज्ञा।
[चले जाते हैं]

इंद्र : *(विवश क्रोध से)*
खूब कहा प्रभु,
इतना रक्तपात होने पर,
इतनी भूमि निकल जाने पर,
आप अभी तक मेरा प्रश्न विचार रहे हैं!

इससे अच्छा हो कि आप
भगवती सती को जीवन दे दें।

ब्रह्मा : *(आश्चर्य से)*
क्या कहते हो?
देवराज,
क्या यह भी लौकिक नेताओं का प्रजातंत्र है,
जो जब चाहें
इच्छाओं से परिवर्तन कर
नियमों को अनुकूल बना लें?

इंद्र : आप सती को जीवन देना नहीं चाहते
तो फिर अब युद्ध के अलावा
कोई और विकल्प नहीं है;
और समस्या का यह अंतिम समाधान है।

ब्रह्मा : देवराज!
युद्ध—
अधिक से अधिक विशिष्ट परिस्थितियों में
समाधान का संभव कारण बन सकता है,
यही नियम है।
—लेकिन कोई शासक मन में
स्वयं युद्ध को,
किसी समस्या का किंचित् भी
समाधान समझे तो भ्रम है।

[नेपथ्य में उभरता हुआ कोलाहल तेज़ हो जाता है। एक उत्तेजित भीड़ का आभास मिलता है और भगवान् ब्रह्मा के उसी कक्ष का दरवाज़ा पीटा जाता है]

एक स्वर : *(नेपथ्य से)*
हम ब्रह्मा को नहीं चाहते।

कई स्वर : प्रजातंत्र में यह मनमानी नहीं चलेगी।

एक स्वर : सेना को आज्ञा दो—
—अथवा
अपना यह सिंहासन छोड़ो।

कई स्वर : खोलो,
ये दरवाज़े खोलो,
इस कायर शासन को तोड़ो।

ब्रह्मा : *(सहसा शांत भाव से उठकर द्वार खोलते हुए)*
क्या कारण है?
इतनी उत्तेजना और ये भीड़-भाड़
—ये नारेबाज़ी···ये सब क्या है?
[नेपथ्य से फिर वही नारा गूँजता है—'प्रजातंत्र में यह मनमानी नहीं चलेगी']

ब्रह्मा : आप लोग अपने प्रतिनिधियों को आने दें
मैं एकाकी सबसे बात नहीं कर सकता।
[द्वार से प्रतिनिधियों को भीतर आने का रास्ता देते हुए]
आप सभी
पहले अपना आवेश त्याग दें,
बैठें शांत भाव से मेरे पास
और यह निश्चय जानें,
इस स्थिति में
अगर युद्ध ही एकमात्र है समाधान
तो
सबसे पहले मेरा रक्त गिरेगा भू पर
युद्धस्थल में,
सेना लेकर सबसे आगे मैं जाऊँगा।

कुवेर : *(आवेश में द्वार से भीतर आते हुए)*
कब जाओगे?
तब,
जब ये प्रासाद धूल में मिल जाएँगे?
देवलोक का नाम-निशान न रह जाएगा?

वरुण : *(उसी द्वार से अंदर आते हुए)*
जब लड़ने को शेष न होगा कोई सैनिक
जब रक्षा के लिए न कुछ भी बच पाएगा
तब जाओगे?
[जनता के प्रतिनिधियों के रूप में कुवेर और वरुण को देखकर पहले तो भगवान् ब्रह्मा विस्मित होते हैं, फिर प्रसन्न और क्षुब्ध]

ब्रह्मा : मैं प्रसन्न हूँ।
देवपुत्र,
मेरे विरोधियों के प्रतिनिधि होकर आए हैं।
उनमें इतना नैतिक साहस है

—जो मुझसे बात कर सकें।
[स्वर बदलते हुए]
पर तुम दोनों
अपने संयम की सीमाएँ लाँघ रहे हो।
सोख लिया है यदि शंकर का
ज्ञान और संतुलन शोक ने,
तो तुम भी क्रोधांध हुए हो।

शेष : *(अचानक प्रवेश करते हुए)*
तुममें भी उस सहज सत्य के
—अन्वेषण की दृष्टि नहीं है।
हम अंधे हैं अगर क्रोध से
तो तुम शिव शंकर की ममता से अंधे हो।

ब्रह्मा : शेष!
तुम भी?
अच्छा, तुम्हीं बताओ,
युद्ध स्वयं में
क्या कोई उपलब्ध सत्य है?
ये भी छोड़ो।
मैं कहता हूँ
तुम शासन की किसी नीति या किसी पक्ष से
पहले मुझे युद्ध की अनिवार्यता बता दो।

शेष : यह विवाद
या स्थितियों के विश्लेषण का समय नहीं है।
यह केवल युद्ध का समय है।
क्रोधित शंकर
सीमाओं में घुस आए हैं।
चिल्लाकर अपनी प्रतिहिंसा उद्घोषित करते
फिरते हैं।
कहते हैं—मेरे विरुद्ध
इस देवलोक में दुरभिसंधि है,
कहते हैं—सारे समाज को
भस्म करेंगे श्राप सती के,
कहते हैं—मेरी पत्नी को
जीवन दो या तांडव भोगो,

कहते हैं—सब देव और ऋषि
हंता हैं भगवती सती के।

ब्रह्मा : लेकिन यह तो उनका मत है··

इंद्र : और हमारा ऐसा मत है—
जहाँ न्याय की हत्या हो
अन्याय सफल हो,
जहाँ शक्ति को अहंकार हो
सत्य विकल हो,
जहाँ विवश-सा शौर्य
झुकाए शीश, सिहरता,
जहाँ प्रबल हों असुर
और निर्बल हों भर्त्ता,
—वहाँ धैर्य का दुर्ग अंततः ढह जाता है
औ' एकमात्र उपाय युद्ध ही रह जाता है।
[इंद्र के आवेश की प्रतिक्रिया में वरुण, कुबेर तथा शेष भी उत्तेजित हो उठते हैं]

शेष-वरुण-कुबेर : *(हाथ उठाकर तीनों चिल्लाते हैं)*
युद्ध करेंगे
अब एकमात्र उपाय युद्ध है
[प्रतिक्रियास्वरूप कक्ष के बाहर खड़ी भीड़ भी चिल्लाती है]

भीड़ : नहीं डरेंगे
अब एकमात्र उपाय युद्ध है

भीड़ से एक स्वर : ब्रह्मा, यह सिंहासन छोड़ो।

भीड़ : इस कायर शासन को तोड़ो।

ब्रह्मा : *(कोलाहल धीमा होने पर इंद्र से)*
यह लो शासन-दंड सँभालो
[दंड देते हुए]
असली शासक तुम हो
मैं तो यों भी परामर्शदाता था
मुझको इस शासन का कोई मोह नहीं है।
पर यदि मुझसे करो अपेक्षा
तो मैं अपने मुँह से
सेना को आदेश नहीं दे सकता।
मैं पहले ही बता चुका हूँ

यह सामूहिक आत्मघात है।
इसके पीछे कोई जीवन-दृष्टि नहीं,
केवल आग्रह है।
शिव-सेनानी वीरभद्र
कैलासनाथ का जटा-पुत्र है,
गण उनके ही मनस्तत्व हैं
डाकिनियाँ, शाकिनियाँ, भूत-प्रेत
उनके अंतर्विकार हैं।
रक्तपात से शिव में और विकार बढ़ेंगे।
और नए गण-सैनिक भूत-प्रेत जन्मेंगे।
—देवलोक के वीर
भला कब तक उन सबसे लोहा लेंगे?

इंद्र : इसका अर्थ हुआ कि शक्ति के भय से
हम शत्रु को न रोकें,
प्राणों का कर मोह
घरों में छुप जाएँ अपमानित होकर;
डरें युद्ध से,
रक्तपात के भय से काँपें
कामिनियों से रास रचाएँ
पौरुष की मर्यादा खोकर?

ब्रह्मा : इसका है ये अर्थ
दृष्टि के बिना अकारण युद्ध न ठानें,
युद्ध अधिक से अधिक एक कारण है
उसको सत्य न मानें,
प्राणों की आहुति
युद्ध के नहीं
सत्य के लिए होती है!

[कक्ष के दूसरे द्वार से मुस्कराते हुए विष्णु का प्रवेश]

विष्णु : ऐसा प्रतीत होता है
जैसे देव-बंधु,
अत्यंत गूढ़-गंभीर प्रश्न में हों निमग्न।
मैं तो यों ही कोलाहल सुनकर खिंच आया।
मेरा आगमन
अनावश्यक

या अनाहूत तो नहीं हुआ।

इंद्र : *(विनम्र होते हुए)*
भगवान् विष्णु का स्वागत है।
कण-कण में रमने वाले अंतर्यामी भी
क्या अनाहूत हो सकते हैं?

ब्रह्मा : *(समुचित आदर देते हुए)*
मात्र समस्याएँ होती हैं अनाहूत केवल जीवन में
बंधु!
आप तो समाधान हैं।
स्वागत है।

[विष्णु आसन ग्रहण करते हैं]

इंद्र : *(आगे बढ़कर)*
प्रभु!
आपको विदित है
शंकर
देवलोक की सीमाओं में घुस आए हैं...
और आपके सहयोगी श्री ब्रह्मा हमको
रक्षा की भी अनुमति देना नहीं चाहते।
सारी जनता असंतुष्ट है।

विष्णु : मुझे विदित है।

वरुण : हमको भय है
यहाँ उलझते रहे परस्पर हम चर्चा में
वहाँ हमारी सेनाएँ आशंकित होकर
शासन से विद्रोह न कर दें।

कुबेर : या उनका अविरोध देखकर
शंकर की सेनाएँ
आगे तक बढ़ आएँ
अथवा अलका पर चढ़ जाएँ।

[उसी समय नेपथ्य से एक नागरिक की पीड़ा-भरी आवाज़ आती है]

एक नागरिक : आह!
लुट गए
आह! मिट गए
इन सब हत्यारों ने हमको

रक्षा का आश्वासन देकर लूट लिया।
भूमि छिन गई
आँखों का सारा आकाश खो गया।
अब अँधियारे में टटोलते फिरते हैं हम
—ओ मेरी रोशनी, कहाँ है तू?
ओ मेरी ज़िंदगी, कहाँ है तू?

दूसरा नागरिक : आह न जाने
कैसे कापुरुषों का संरक्षण पाया है?
मेरे उत्तरवासी
सब संबंधी बेघरबार हो गए,
सब शरणार्थी
पूर्वजन्म में जाने कितने पाप किए थे
जो इन कापुरुषों का संरक्षण पाया है...

शेष : *(विष्णु को संबोधित करके)*
सुनते हैं प्रभु ये आवाज़ें...
देख रहे हैं...

सर्वहत : *(शरणार्थी के वेश में लड़खड़ाता हुआ उसी द्वार से मंच पर प्रवेश करता है, जिससे वरुण, कुबेर आदि प्रतिनिधि आए थे)*
मैं सुनता हूँ...
मैं सब कुछ सुनता हूँ
सुनता ही रहता हूँ...
देख नहीं सकता हूँ
सोच नहीं सकता हूँ
और सोचना मेरा काम नहीं है
उससे मुझे लाभ क्या...
मुझको तो आदेश चाहिए
मैं तो शासक नहीं
प्रजा हूँ
मात्र भृत्य हूँ
इसीलिए केवल सुनना मेरा स्वभाव है।

ब्रह्मा : तुम किसलिए यहाँ आए हो?
जबकि तुम्हारे प्रतिनिधियों से बात हो रही है
तो तुमको
भीतर आने की आज्ञा किसने दी?

सर्वहत : मैं? हाँ...
मैंने पहचान लिया
मैंने सुनकर ही पहचान लिया
—ठीक वही स्वर है
—वही
जो मेरे महलों में एक रोज़
भूखों की भीड़ ले आया था।
बोलो...
क्या तुमने भी मुझको पहचान लिया?
[रुककर]
याद नहीं आता क्या?
पर मुझको याद है
मैं कभी सुनने में भूल नहीं कर सकता।
हाँ, मुझको याद है
कि मैंने तुमसे
यह कभी न पूछा था—
तुम किसकी आज्ञा से आए हो?
मैंने तो बाँहें फैलाकर तुम्हें अनायास
अपनी यह देह भेंट कर दी थी
पर तुमने कुछ भी न खाया था...
[रुककर]
ये भी तुम्हें याद नहीं?
ओह!
अब समझा,
तुम शासक हो,
उनकी स्मरण-शक्ति दुर्बल हो जाती है।
छोटी-छोटी बातें उन्हें याद नहीं आती हैं।
पर तुम जाने कैसे शासक हो!
और...जाने कैसी है तुम्हारी यह प्रजा,
—ज़रा-ज़रा बातों पर चीखती-चिल्लाती है
शासन के दरवाज़े पीटती है
नारे लगाती है
और शत्रु सेना की तरह घिरी आती है...
[सीने पर हाथ मारकर]

अरे··प्रजा हम थे
हमने उफ् तलक नहीं की
शासन के गलत-सलत झोंकों के आगे भी
फसलों-से विनयी हम बिछे रहे निर्विवाद
हमारे व्यक्तित्व के लहलहाते हुए
खेतों से होकर—
दक्ष ने बहुत-सी पगडंडियाँ बनाईं
कर दी सब फसलें बरबाद
पर हम नहीं बोले··बिछे रहे
हमने पथ दिया सबको
क्योंकि हम प्रजा थे···

विष्णु : पर अब तुम
हमारी प्रजा हो··दक्ष की नहीं हो।
यहाँ तुम बिछोगे नहीं
तुममें से होकर अब
कोई पगडंडी भी नहीं बना पाएगा।

सर्वहत : पर अब मैं
एक पगडंडी के सिवा और क्या हूँ?
—धूल-भरी विस्मृत-सी पगडंडी एक :
जिस पर थके और ज़ख्मी पदचिह्न हैं अनेक :
और जो परंपरा की तरह,
एक दायरे में,
चक्कर लगाती हुई चलती है,
अब तो मैं खेत भी नहीं हूँ
और अगर खेत हूँ भी तो
अब मुझमें फसल कहाँ फलती है?

विष्णु : किंतु बंधु!
यहाँ किस प्रयोजन से आए हो?
हमको बतलाओ तुम।
शायद तुम्हारे लिए
हम कुछ कर सकते हों!

सर्वहत : तुम क्या कर सकते हो,
कोई क्या करता है अथवा कर सकता है
यह उसकी अपनी सामर्थ्य और क्षमता पर

निर्भर है,
यह कोई सार्वजनिक प्रश्न नहीं।
...हाँ।
...लो मैं अपना प्रयोजन ही भूल गया
यह प्रयोजनी समाज!
जिसमें हर बात का प्रयोजन
देखा जाने लगा है आज।
मैं इसमें आकर
प्रयोजन ही भूल गया।
...हाँ, मुझको याद आया
—शायद मैं भूखा हूँ
—रोटी के लिए यहाँ आया हूँ।
—नहीं! नहीं!!
रोटी नहीं,
—मांस और मदिरा।
—नहीं, ये भी नहीं
शायद कुछ और...
शायद थोड़ा-सा रक्त?
[उल्लासपूर्वक]
हाँ! याद आया
रक्त!
लाल-लाल
ताज़ा-ताज़ा
गरम-गरम रक्त!
[अधरों पर जीभ फेरकर]
तुम मुझको चुल्लू-भर रक्त
पिला सकते हो?
आह!
आज मैं प्यासा हूँ।
देखो ना!
सूखे पड़े हैं मेरे होंठ
जिन पर पपड़ियाँ उभर आईं।
दक्ष के नगर में मैंने
बहुत दिनों

नहीं मिला पानी तो रक्त ही पिया
और उसी पर जिया।
तुम मुझको थोड़ा सा
रक्त दिला सकते हो?

ब्रह्मा : दक्ष का नगर ये नहीं है
देवलोक है।
यहाँ तुम्हें रक्त नहीं मिल सकता।

विष्णु : एक बूँद रक्त यहाँ बहुत मूल्य रखता है।
बंधु, हम अगर चाहें
तो भी हम रक्त का प्रबंध नहीं कर सकते।

सर्वहत : क्या बच्चों-सी बातें करते हैं आप लोग।
आप लोग शासक हैं
और शासकों को कहीं
रक्त की कमी हुआ करती है।
आप लोग चाहें तो मेरे लिए
रक्त का समुंदर भर सकते हैं।
—पर मैं समझता हूँ
मुझको बहलाते हैं आप लोग।
आप लोग मुझसे असंतुष्ट,
अप्रसन्न।
आप नहीं
सभी लोग
¨सभी मुझे देखकर घृणा से थूक देते हैं
मुझे मार डालने के लिए लपकते हैं।
पर मेरा दोष क्या है?

ब्रह्मा : *(चिढ़े हुए स्वर में)*
बंद करो यह प्रलाप
हम इतनी देर सहन करते रहे शब्द-श्राप
और क्या तुम्हारा यही दोष कुछ कम है।
तुम अपने
स्थिति-संदर्भों से कटे हुए
श्राप हो समय के,
और भार हो हमारे वर्तमान पर;
तुम अब भी उस क्षण में जीते हो

जो कि एक काला-सा धब्बा है
जीवन के
उजले विहान पर।

सर्वहत : *(आश्चर्य से)*
बस...
इसीलिए तुम मुझको
प्यासा मार डालोगे
रक्त नहीं दोगे...
सिर्फ इसीलिए...

काश!
यह पता होता पहले से मुझे
कि चाहे वह दक्षलोक हो
अथवा देवलोक
साधारण लोगों को कहीं
न्याय मिलता नहीं
तो मैं यह रक्तपान करने की
बात छोड़ देता।

इंद्र : मित्र!
'साधारण लोगों को न्याय नहीं मिलता है'
ये कहना
बिलकुल आधारहीन-सी है एक बात।

सर्वहत : क्यों?
क्या अपने महादेव शंकर के साथ
इन्हीं लोगों ने
किया नहीं पक्षपात?
सीमा पर उनके लिए
—रक्त की नदियाँ खुलवा दीं...
और मुझसे कहते हैं—
'यहाँ रक्त नहीं मिल सकता
यहाँ रक्त है अमूल्य।'

बतलाओ—
मुझमें या शिव में क्या अंतर है?

यही ना कि मैं तो सर्वहत हूँ
—साधारण हूँ—
और वो विशिष्ट देवता है, शिव शंकर है!
किंतु प्यास दोनों की एक-सी है।
[हँसता है और कुछ याद कर सहसा रुक जाता है]
ओह!
किंतु क्षमा करें
भटक गया था मैं,
[रोते हुए]
मैं तो प्रजा हूँ
मुझे क्या हक है¨?
क्या हक है जो मैं प्रलाप करूँ?
आपका अमूल्य समय नष्ट करूँ?
क्षमा करें प्रभु!
मुझको क्षमा करें।
[रोता हुआ ब्रह्मा के चरणों में अचेत-सा गिर जाता है]

वरुण : क्या इसका प्राणांत हो गया?

कुबेर : आओ देखें।

विष्णु : *(एक दृष्टि सर्वहत पर डालकर)*
नहीं,
अभी तक सिसक रहा है।

इंद्र : *(उच्छ्वास छोड़ते हुए)*
इसकी बातें कितनी कडुवी थीं
लेकिन कितनी सच्ची हैं।
उनके संदर्भों में मुझको
महादेव का कृत्य, मात्र हिंसा लगता है
इसकी रक्तपान की लिप्सा जैसा
—तर्कहीन पागलपन।
[ब्रह्मा से]
प्रभु!
क्या अब भी
कहीं आपके मन में थोड़ी-सी दुविधा है?
अब भी शंकर का औचित्य
सिद्ध करने पर तुले हुए हैं?

ब्रह्मा : मैंने कब शिव शंकर का
औचित्य सिद्ध करना चाहा था?
मैंने तो केवल चाहा था
तुम अपना औचित्य समझ लो...
तुम सत्य से आँख मत मीचो।
यदि तुमको जय ही अभीष्ट है
अपनी ओर सत्य को खींचो।
प्राणों की आहुति
युद्ध के नहीं
सत्य के लिए होती है।

[द्वार पर खड़ी जनता में प्रतीक्षा का कोलाहल उभरता है और एक नागरिक द्वार में से कुछ आगे आकर कहता है]

एक नागरिक : हम ये लंबी-लंबी
नीरस बहसें सुनकर ऊब चुके हैं।
कब से खड़े हुए सब के सब
हम निर्णय के अभिलाषी हैं।

पीछे भीड़ की आवाज़ : हम निर्णय के अभिलाषी हैं।

विष्णु : धीरज रक्खो
न्याय करूँगा।
चाहे शंकर मेरे कितने निकट मित्र हों,
चाहे ब्रह्मा जी मेरे कितने अभिन्न हों,
पर मैं अपना मत
सत्य के पक्ष में दूँगा।

[उसी सैनिक का प्रवेश]

सैनिक : *(किंचित् घबराए हुए स्वर में)*
देवराज!
सेना कब की सन्नद्ध खड़ी है।
क्या आज्ञा है?

विष्णु : *(विश्वासपूर्ण गांभीर्य से)*
सैनिक!
सबसे जाकर कह दो
शीघ्र युद्ध होने वाला है।
क्षीर सिंधु के वासी विष्णु
हमारी सेना के नायक हैं।

सेना से कह दो
वह सीमाओं पर जाए।
कह दो उससे
शत्रु न आगे आने पाए।
जल्दी जाओ
कह दो सबसे।
रण के मारू वाद्य बजाओ।

सैनिक : *(प्रसन्नतापूर्वक)*
जो आज्ञा प्रभु!
[ब्रह्मा प्यार और प्रशंसा से विष्णु को देखते हैं]

विष्णु : देवराज!
तुम अपना धनुष-बाण मुझको दो,
मेरे मत में
पहले कर्म हुआ करता है
फिर उसकी व्याख्या होती है...
[इंद्र धनुष-बाण देते हैं, जिसकी प्रत्यंचा खींचकर, मंत्र पढ़कर विष्णु एक बाण छोड़ते हैं, जिससे तीव्र नाद होता है। उपस्थित देवगण एवं जनता अनायास भगवान् विष्णु की जय-जयकार कर उठती है। जय-जयकार करती भीड़ के क्रमशः दूर होते जाने का आभास]

इंद्र : देखा प्रभु!
भगवान् विष्णु ने भी कर्म को महत्ता दी है।

ब्रह्मा : हाँ, यदि वह चिंतन-प्रसूत हो,
धर्मजन्य हो।

विष्णु : देवराज!
मैंने जो कर्म किया है वह चिंतन-प्रसूत है।
उसका फल
क्षण-दो क्षण में सम्मुख आएगा।
मैंने अपना पक्ष तौलकर
सत्य समझकर ही शंकर पर
अपना प्रथम बाण छोड़ा है :
इसके द्वारा
उनका एक स्वप्न तोड़ा है।
मुझे ज्ञात है

हर परंपरा के मरने पर थोड़े दिन तक
सारा वातावरण शून्य से भर जाता है,
औ' परंपरा के चरणों में नतमस्तक
उसका हर पोषक
सहसा मन में डर जाता है।
अथवा आक्रामक या हिंसक हो उठता है।
[सर्वहत को झुककर उठाने का यत्न करते हुए]
देखो—ये भयभीत
और शंकर हिंसक हैं।
लेकिन इसके बावजूद फिर
थोड़े दिन पश्चात् शून्य की उसी भूमि पर,
कोई नया रूप धर
नन्हा अंकुर एक उभर आता है,
जो कि अंततः
हर उपेक्षा पर अपना विकास पाता है।

इंद्र : समझ गया मैं
एक सत्य से कट जाने पर
[सर्वहत की ओर संकेत करके]
यह सामर्थ्यहीन साधारण जन
केवल भयभीत हो गया,
पर कैलासनाथ ने सहसा,
आक्रामक का रूप कर लिया पल में धारण।
नए सत्य से जोड़ नहीं पाए वे खुद को
शव के कारण।

वरुण : इसीलिए अंकुर को ऊपर आने देना नहीं चाहते।
लेकिन प्रभु,
शिव शंकर वह शव कब त्यागेंगे?
भूमिसात होगी कब वह दुर्गंध कि जिससे
सारा वातावरण ग्रस्त है।
कब उस शव का खाद ग्रहण कर
इस मिट्टी की पृष्ठभूमि पर
नव अंकुर ऊपर आएगा?

सर्वहत : *(कष्ट से सिर उठाने का यत्न करते हुए धीरे से)*
मैं बतलाऊँ कब आएगा?

इंद्र : *(सर्वहत की उपेक्षा करते हुए)*
प्रभु,
क्यों लोग 'नए' को ऊपर आने देना नहीं चाहते?
[सर्वहत की ओर संकेत]
चाहे वे साधारण जन हों
अथवा महादेव शंकर हों
क्यों इनमें अधिकांश लोग लाशें ढोते हैं;
—लाशें मरी मान्यताओं की
मरे विचारों की
भावों की...।

विष्णु : लाशें ढोने वाले अकसर
खुद भी तो लाशें होते हैं।

इंद्र : लेकिन ऐसा क्यों होता है?

विष्णु : क्योंकि सत्य का ताप
बड़े संयम से औ' श्रम से झिलता है,
जिसमें उद्‌घाटित होता है सत्य
उसे सृजन का सुख मिलता है,
किंतु सृजन से पहले की पीड़ाओं जैसी
पीड़ा इसमें भी होती है...

सर्वहत : और उसी से सब बचते हैं
[कष्ट से खड़ा हो जाता है]
सब बचते हैं...
मैं बतलाऊँ क्यों बचते हैं...
मैंने भी मुर्दे ढोए हैं
मैं केवल बतला सकता हूँ
मैं अपनी गर्दन नीची रखता हूँ
लेकिन
मुझे पता है।

इंद्र : तुम्हीं बताओ!

सर्वहत : जो अपनी गर्दन ऊँची रखते हैं
वे भी
नए सत्य को सम्मुख पड़कर नहीं देखते,
वे भी सहसा नए प्रश्न से नहीं जूझते
उससे लड़कर नहीं देखते,

सिर्फ व्यस्तताओं की रचना करके
उसे टाल जाते हैं
और युद्ध भी एक व्यस्तता का नाटक है।
[सहसा व्यंग्य-मिश्रित आवेश में आकर इंद्र से]
तुमने भी न्याय के नाम पर
यह नाटक रचना चाहा था,
नए सत्य की सृजन-व्यथा से
कतराना-बचना चाहा था।
—तुम भी तो अपवाद नहीं हो!
तुम भी तोऽ अपवाऽऽ द¨हा हा हा¨
रण का निर्णय लेते समय
बताओ तुमने क्या सोचा था?
[हँसता हुआ मंच से चला जाता है]

इंद्र : *(स्वगत सोचते हुए)*
चला गया वह¨
मुझमें जलते हुए प्रश्न की आग ढालकर
मेरे चिंतन के सोए जल को खँगालकर।
[प्रकट]
पागलपन का दर्प सँजोए
चला गया वह¨मूर्ख कहीं का!

विष्णु : उस पर क्रोधित क्यों होते हो?
उस जैसे साधारण जन को
परिवर्तन का यह विष पीना
और पचाना
सरल नहीं है।
यों भी यह कोई साधारण कार्य नहीं है¨।
लेकिन उसका प्रश्न
तुम्हारे लिए बोध है।
रण का निर्णय लेते समय बताओ
तुमने क्या सोचा था?

इंद्र : *(पृष्ठभूमि में फिर सर्वहत की हँसी और यही प्रश्न उभरता है। इंद्र पश्चात्तापपूर्वक रुककर सोचते हुए)*
मैंने¨क्या सोचा था
सचमुच¨क्या सोचा था?

मैं प्रतिहिंसा से पागल था शायद!
शायद कुछ भी सोच नहीं पाया था उस क्षण!
प्रभो! आपने आज
दृष्टि के अवरोधों को खोल दिया है,
यों लगता है
मानो मैंने मरकर फिर से जन्म लिया है।
प्रभु···

विष्णु : बोलो
शायद मन में कुछ शंका है···

इंद्र : हाँ,
प्रभु, मैं आश्वस्त नहीं हूँ।
अभी भृत्य ने बतलाया था
लोग व्यस्तताओं का यों ही
झूठ-मूठ नाटक रचते हैं
और सत्य की सृजन-पूर्व जैसी पीड़ाओं से बचते हैं।
क्या ये संभव नहीं कि शिव भी
इसी वंचना में डूबे हों आँख मीचकर?
क्या ये संभव नहीं दृष्टि दें आप उन्हें भी
और जगा दें अकस्मात् आवरण खींचकर?
फिर प्रभु··क्यों आपने
आत्म-साक्षात्कार का
अवसर दिए बिना ही उन पर बाण चलाया··
क्या शिव में संक्रमण-काल का
विष पीने की शक्ति नहीं है?
क्या वे यों ही नीलकंठ हैं?

विष्णु : मैं इस चिंता पर प्रसन्न हूँ।
देवराज, विश्वास रखो यह
जैसा तुमने चाहा है,
वैसा ही होगा।
मुझे पता है
इस त्रिलोक में
महादेव का एक कंठ केवल विषपायी,
जिसकी क्षमताएँ अपार हैं।
तुम अपने अंतस् से यह विषाद धो डालो।

मैंने एक प्रणाम-बाण छोड़ा है
जिसके कई फलक हैं,
वे सारे
शिव के कंधों पर पड़ी हुई भगवती सती के
शव को खंड-खंड कर पल में
दिशा-दिशा में छितरा देंगे।
जहाँ-जहाँ वे खंड गिरेंगे
वहाँ सत्य के नए-नए अंकुर उपजेंगे
और धर्म के तीर्थ बनेंगे।
लेकिन…मेरा मूल बाण शिव के चरणों में
एक चुनौती या प्रणाम का अर्थ कहेगा,
चाहे वे प्रणाम स्वीकारें
चाहे वे युद्ध की चुनौती,
हर हालत में सत्य हमारी ओर रहेगा,
…अंतिम विजय हमारी होगी।

[इंद्र अन्य देवताओं सहित ब्रह्मा और विष्णु की अभ्यर्थना में पृथ्वी पर झुक जाते हैं। प्रकाश-व्यवस्था द्वारा मंच पर पवित्र एवं भव्य वातावरण की सृष्टि होती है। नेपथ्य में स्तोत्र-गायन एवं मंगल-वाद्य मुखर हो उठते हैं, जिनके ऊपर सहसा मनादी की-सी शैली में उद्घोषक का स्वर उभरता है। उद्घोषणा के पहले वाक्य पर ही परदा गिर जाता है किंतु उद्घोषणा चलती रहती है।]

उद्घोषक : सुने सब प्रजा
यह समाचार सुने
महादेव शंकर की सेनाएँ
लौट गईं…।
सीमा पर रक्तपात
नहीं हुआ…।
युद्ध हो गया समाप्त।
सुने सब प्रजा
यह समाचार सुने…।

रचनाकाल 1962-63

सन् ५२ में हरिवंश बच्चन के काफी गीत देखने को मिले थे किंतु इस वर्ष उनकी भी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हुईं। लेकिन इस पीढ़ी में भी नेपाली अपवाद हैं। उनके गीत बराबर इधर उधर प्रकाशित होते रहे हैं जिनमें से कुछ में यदि भावाभिव्यंजना की सादगी तक दर्जे की है तो कुछ अपने गंभीर चिंतन और दर्शन के भार से एकदम बुझे हैं। अंचल, नरेन्द्र शर्मा, रामकुमार तिवारी, शिवमंगल सिंह 'सुमन', गिरिजा कुमार माथुर आदि कवियों की भी बहुत कम रचनाएँ प्रकाशित हुईं। आरसी प्रसाद सिंह के अनेक गीत देखने को मिले जिनमें अधिकांश साधारण थे और पुरानापन लिए हुए थे। किंतु 'कोकिल' जी ने लोक ढंग में भक्ति की लय युक्त भावना के साथ कुछ मनोरम गीत दिए। इनके गीत तन्मयता के अतिरेक से मीरा की हूक की याद दिलाते हैं। भाषा को अपने ढंग से तोड़ मोड़ कर, इन्होंने इसमें ग्रामीण शब्दों को अत्यन्त उपयुक्त ढंग से पिरोया है। लोकगीतों का उन पर स्पष्ट प्रभाव दिखाई देता है। और शायद यह कहना भी अनुचित न होगा कि इस वर्ष के अधिकांश गीत छंद, भाषा, और भावों की दृष्टि से लोक गीतों का प्रभाव लिए हुए हैं।

बाद सन् ५३ के

संक्षेप में यहाँ लगभग गीतों की धारा यहीं समाप्त हो जाती है मगर लिखने वालों में देवराज दिनेश, वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, रामानन्द त्यागी, गिरिधर गोपाल, भोलानाथ ..., विद्यावती मिश्र, जितेन्द्र कुमार, रामकुमार चतुर्वेदी, गंगाप्रसाद, रघुनाथ 'शेष', श्री पी., ओंकारनाथ श्रीवास्तव, राजनारायण बिसारिया, श्याम मोहन श्रीवास्तव, 'उमेश', 'पीयूष', और 'किशोर' आदि गीतकारों का नाम लिया जा सकता है। जिनमें वीरेन्द्र मिश्र, नीरज, गिरिधर गोपाल और देवराज 'दिनेश' ने कुछ अच्छे गीत दिए।

संक्षेप में यदि इन गीतों की प्रमुख प्रवृत्तियों को देखें तो पाएँगे कि इनमें सूक्ष्म और अमूर्त के स्थान पर स्थूल और मूर्त का चित्रण अधिक है।

वस्तु की यथार्थता की ओर अधिक ध्यान देने के कारण संगीत का आग्रह कम है।

दुष्यन्त की हस्तलिपि और लेखन-प्रक्रिया

बंदूक चलाएँगे

कलम नहीं अब बंदूक चलाएँगे
दावात उठाकर कोने में धर दो
अध्ययन-कक्षों में परिवर्तन कर दो
कागज़ के कोरे पन्ने हैं निर्जीव
तुझे याद होगा ओ मेरे देश
जब तूने आँख का इशारा किया था तब
हमने हवाओं की बागडोर मोड़ी थी
खाक में मिलाया था पहाड़ों को
शीश पर बनाया था एक नया आसमान
जल के बहावों को मनचाही गति दी थी
कश्मीरी सीमा से दुश्मन को दूर तक खदेड़ा था
विष भरे सपोलों के फन कुचल दिए थे

आज फिर हवाएँ प्रतिकूल बह निकली हैं
शीश फिर उठाए हैं सपोलों ने
बस्तियों की ओर रुख किए हैं फिर
दुश्मन की तोपों के गोलों ने।

भर गया विमानों की गूँजों से
काला हुआ है धुएँ से
माथे का मोर-मुकुट कश्मीर
दुखने लगा है फिर रोम-रोम।
आक्रामक फिर वो है
समझे थे हम जिसे कि भाई है?
सोचा था समय पाट देगा
यह आपस की छोटी खाई है
किंतु नहीं, भ्रम था वह टूट गया
छलक उठा पैमाना

आज ये पहाड़
ये बहाव, ये हवा
ये गगन
मुझको ही नहीं
सबको चुनौती है
उनको भी जो हैं जागे
सोए हुओं को भी

लोकतंत्र के जीवित सारे प्रहरियों को
सबसे अधिक तुमको मेरे देश
तुम जो हमेशा से
शांति औ' अहिंसा के सपनों में
जीते रहे हो।

आज फिर नसों में वह खून खौल उठा है
बंकिम हुई हैं भौंहें
मैंने कुछ तेज़-सा कहा है।

सच
परवा नहीं है हमें ऐसे प्रहरियों की
देखते रहना तुम
फिर हम अँधेरे पर ताकत से वार करेंगे
बहावों के सामने सीना तानेंगे
नामुराद आँधी की बागडोर मोड़ेंगे
देखते रहना तुम
इतिहास फिर खुद दुहराएगा
गिरजे, गुरुद्वारे औ' मंदिरों-मस्जिदों से
गूँजी समवेत आवाज़ों पर
हर जीवन धड़केगा
हर जवान आएगा।

ओ मेरे देश
आज कुछ भी नहीं हूँ मैं
मुझमें मचलता हुआ केवल तू सच है
मेरी यह देह एक छोटी-सी चौकी है
लावे-सा उबलता हुआ केवल तू सच है
तुझमें धड़कती हुई हर आहट मेरी है
दिशा-दिशा जलता हुआ केवल तू सच है

ओ मेरे देश!
मेरा अहम् आज आहत है
बारूदों में ढलता हुआ केवल तू सच है

संभावित रचनाकाल : भारत-पाक युद्ध संदर्भ 1965

एक अलग शे'र

कुछ यों बिखर रहे हैं अकीदे इधर-उधर
हाथों से छूट जाए भरा चावलों का सूप

1967

स्थिति

हर ऋतु
एक वासनारहित
उदास प्रेमिका
हर दिन
एक थका स्खलित
पराहत प्रेमी
हर इच्छा
उत्साहहीन दर्शक-सी खाली
कहीं नहीं कोई चिनगारी
मैं तो सोच-सोचकर
पागल हो जाता हूँ
कितनी आग भरेगी हममें
चाय की प्याली

1968-69

गीत

पुरवाई-सी भटक रही है याद तुम्हारी सूने मन में।
उगा गगन में चाँद, हृदय में
उभरा जैसे एक फफोला,
खिली जुन्हाई या चाँदी के
प्याले में नभ ने विष घोला,

अंगारों-सा चटख रहा है मेरा आहत प्यार नयन में।
विश्वासों के कूलों पर हैं
बैठे ज्वार बदलकर बाना,
मुझको जैसे फूँक रहा है
मेरा दीपक-राग सुहाना,

बूँद-बूद के लिए तरसती हैं अभिलाषाएँ जीवन में।
भारी-भारी होते जाते
हैं साँसों को सुधियों के क्षण,
सँकरे पथ से निकल रहा हो
जैसे गतिमय पर्वत का तन,

पर फैलाने को आतुर हैं मेरे प्राण विहंग गगन में।

संभावित रचनाकाल : 1970-71

गीत

फिर आसमान के दीपक जलने लगे
नयन से आँसू ढलने लगे।

दिन भर सोए सपनों ने पलकें खोलीं
अपनी-अपनी भाषा में सुधियाँ बोलीं
'मत भारी दिल से जलता सूर्य निहारो'
तम बोला—'हम भी तो तेरे हमजोंली'
अभिलाषाओं के मेघ पिघलने लगे
नयन से आँसू ढलने लगे।

चाँदनी वही, रंग-रूप किसी की छाया
नभ-पथ पर कोई वेष बदलकर आया
झिलमिल-झिलमिल परिधान वही सस्मित मुख
मैंने तारों को देखा, धोखा खाया
फिर पीड़ाओं के पंख निकलने लगे
नयन से आँसू ढलने लगे।

क्षण भर को यह आकाश ज़रा झुक आए
मैं ताक रहा अपनी बाँहें फैलाए
कंदील इरादों के बुझते जाते हैं
पथ इसी जगह हो खत्म, न आगे जाए
माँग कर विदा सब साथी चलने लगे
नयन से आँसू ढलने लगे।

संभावित रचनाकाल : 1970-71

आश्वासनों का सूर्य

डूब जाएगा पुनः आश्वासनों का सूर्य
भाषणों की धूप में तपते हुए चेहरे
विदा लेंगे
फिर अँधेरा घेर लेगा घरों को
चुपचाप, हारे हुए अपने आपसे
सब लोग
अपने हाथ और हथेलियाँ सहलाएँगे।
जो सभाओं में तालियों का शोर करने
ज़ोर से नारे लगाने को उठाए गए थे
उत्साहवश या विवश करके
वहाँ लाए गए थे
वो लोग थककर बैठ जाएँगे
फिर किसी मनहूस दल के चिह्न-सी जीवन-पताका
झुकेगी या थरथराकर टूट जाएगी

फिर समय का अंतराल विशाल
अनगिन सीपियों में बंद
खुलने लगेगा, हर रोज़ खुलता जाएगा
मुक्त होने, मुक्ति पाने की प्रबल उत्कट तृषा ले
हर दिशा से उठेगी आवाज़
फिर वही
फिर-फिर वही
जो हुआ है अब तक
वही होता जाएगा।

कुछ न होगा
फिर समय की पीठिका पर
अँधेरे आकाश में अनुमान का आवेश उभरेगा
चमत्कारों से ग्रसित इस देश को
बंद अनगिन सीपियों में
झिलमिलाते मोतियों की छवि दिखाएगा
लोभ की लिपि में लिखेंगे सीपियों पर नाम
फिर वही
फिर-फिर वही, जो हुआ अब तक
वही होता जाएगा।

1971-72

गीत

जागा सारा देश है।
कौन देख सकता है
अपनी माँ की घायल काया,
इसीलिए बंगाल देश में
ये उबाल-सा आया

हर घर में पीड़ा है जिसके
हर स्वर में आवेश है। जागा···

जो सपना आँखों में था
वह कल सच हो जाएगा,
ढाका में घर-घर
मुजीब का परचम लहराएगा,

आधी से ज़्यादा तय कर ली
आधी मंज़िल शेष है!
मुक्तिवाहिनी की सीमा में
जन-जीवन निर्भय है
ये मज़हब पर लोकतंत्र की
सबसे बड़ी विजय है

युद्ध नहीं है, एक यज्ञ है
जन-जन का उन्मेष है।

1971

गीत

धीरे-धीरे फैल रही है
आज़ादी की आग री,
तू अपने आँचल में ले चल
जलता हुआ चिराग री!

रस्ता चलते-चलते कितने लोग यहाँ बिलमा गए!
लेकिन भटके हुए मुसाफिर ठीक जगह पर आ गए
संस्कृति एक विराट सिंधु है
सारा जल जनतंत्र है
मत पागल होकर लहरों के
पीछे-पीछे भाग री!

आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ एक लड़ाई छिड़ गई
नन्ही-सी भावना मुक्ति की, संगीनों से भिड़ गई

भारत ने दे दिया समर्थन
आदर्शों के नाम पर
तू चुपके से दे दे
अपने आँसू और सुहाग री!

मुक्तिप्रदाता मुक्तिवाहिनी का ऐसा संदेश है
खेतों और कारखानों में अभी लड़ाई शेष है

खाली पेट नहीं भाता है
गंधर्वों का गान भी
पर कितना अच्छा लगता है
रोटी के संग राग री!
धीरे-धीरे फैल रही है...

1971

आँगन की चिड़िया

अब मेरे आँगन में वह चिड़िया
गाती नहीं चुप रहती है
आम की छाँव अपनी उदासी मुझसे कहती है
धूप भी बहुत बढ़ गई है
घर से निकलते हुए लोग
धूप से बचते हैं
मुझसे मिलने नहीं आते
ओ मेरी प्रिया!
मौसम इतना खराब है
कि एक चिड़िया तक कहीं नहीं बोलती
सिर्फ बच्चे ही हैं जो ऐसी गर्मी में
खेल खेलने का ढोंग रचते रहते हैं।
लुओं से बचते हैं
मैंने इस गर्मी में अपना बगीचा नहीं सींचा
एक जन्म लेता हुआ बिरवा

सूख जाने दिया
ओ मेरी प्रिया!
तुझे भूल जाने के लिए मैंने क्या नहीं किया
पर्वत की इस ऊँची चोटी तक
सिर्फ चाँदनी के लिए आया हूँ
मैं उसका हाथ पकड़ नीचे ले जाऊँगा
लेकिन मैं प्रियाहीन
इस पर्वत बाला को
कब तक तरसाऊँगा

इस ऊँची चोटी तक
कब-कब आ पाते हैं लोग—
भला मैं ही क्या आऊँगा दोबारा?
ना, ना, ना
मैं उसको संग लेकर जाऊँगा
लेकिन नीचे मैदानों में
मेरा जी बेहद घबराता है
गर्दन हिल उठती है अनायास
बार-बार ढीली हो जाती है हवा
और पीला आकाश
मन ही मन वृद्ध पिता पीपल
भुनभुनाता है
मेरी मजबूरी जैसे कोई नहीं समझ पाता है
नीचे मैदानों में प्रियाहीन
मेरा जी बेहद घबराता है।

1971-1972

आक्रामकों से

रण का बिगुल बजाने वालो
सीमा में घुस आने वालो
तुमने यह तो सोचा होता, आगे राह किधर जाएगी?

ये भारत की जनता, जिसका
गंगा जैसा निर्मल मन है,
जिसके पौरुष में नैतिकता
सत्य-अहिंसा जिसका धन है

ऐसी वीर-प्रसविनी धरती
आदर्शों पर जीती-मरती
इसको जितनी आँच मिलेगी, उतनी और निखर जाएगी।
तुमने यह तो सोचा होता आगे राह किधर जाएगी।

वक्त पड़े तो पी लेते हैं
भारतवासी आग खुशी से,
हँसकर बहने दे देती हैं
सोना और सुहाग खुशी से,

हमने थोड़ा-सा दुःख भोगा
पर क्या अंत तुम्हारा होगा
थोड़े दिन पश्चात् यहाँ की आग तुम्हारे घर आएगी।
तुमने यह तो सोचा होता आगे राह किधर जाएगी।

देखो एक पुकार उठी तो
गूँज उठीं अनगिन आवाज़ें,
हर मंदिर में चढ़े पुजापे
हर मस्जिद में हुई नमाज़ें
हल की मूठ पकड़ने वाला
बच्चा-बच्चा लड़ने वाला
ऐसा देंगे पाठ तुम्हारी, रण की लिप्सा मर जाएगी,
तुमने यह तो सोचा होता आगे राह किधर जाएगी।

1971

कई बार

कुत्तों और चूहों के बीच
मेरी छटपटाहट
और घृणा की अभिव्यक्ति
क्या माने रखती है
कंठ का थूक गटक-गटककर
निवेदन करने वाले लोग
उन्हें पसंद करते हैं
और देवता या हव्वा बना देते हैं
जो आदमी भी नहीं है कि
ऐसा किया जाए।
यह प्रक्रिया
जिसे
ऊँची नौकरी या अफसरी की
सीढ़ियाँ चढ़ते हुए
तय करना पड़ता है
कि आदमी बिना बात गर्दन
टेढ़ी करके चलता है, अकड़ता है
नाक पर घूँसे खाना पसंद करता है
छोटे से नफरत करता
बड़े से डरता है

मैंने कई बार तिलमिलाकर गुस्से से
माचिस निकाली और आग
दिखलाने की कोशिश की
सारी व्यवस्था को
लेकिन उन्हें आँच तक न आई
और मुझे हव्वा या देवता
या चापलूस होने के लिए
चुप हो जाना पड़ा।
मैं जानता हूँ कि कुछ नहीं होगा
आखिर कुत्तों और चूहों के बीच
मेरी छटपटाहट और घृणा
क्या माने रखती है।

1971-72

उत्तर में एक प्रश्न

अगर किसी रोज़
यह हवा
फूलों का टोकरा न लाए
बदहवास लड़की-सी
गरम-गरम साँसें
मेरे कंधों पर धर दे
कमरे को अपनी अकुलाहट से भर दे
और कहे बोलो—

अगर किसी रोज़
मुझसे आसमान रूठ जाए
आँगन में अँधेरा उलट दे
और मेरी आँखों में उतर आए
कहे—बोलो
पर मेरा मीत
दिशा-दिशा बजता संगीत
सहसा किसी रोज़ रुक जाए
क्रंदन या हाहाकार के समक्ष झुक जाए
और मेरे अंतर में ढलता हुआ
धीरे से कहे—बोलो
तो क्या मैं इन सबसे कह दूँगा—
'निकल जाओ'
मैं जिनमें जिया
और जिन-जिन से मैंने
जीवन-रस लिया
और खून पिया खून दिया
उनका अस्तित्व चाहे
कैसे भी कृतघ्न वातावरण में बढ़ा हूँ
भूल जाऊँगा?
उन्हीं के कारण
ज़मीन पर खड़ा हूँ
भूल जाऊँगा

क्या मैं उनसे कह सकूँगा
दुनिया के चौखटे से
थोड़ा अलग अथवा
थोड़ा बड़ा हूँ
मुझे अब ज़रूरत नहीं है
यौवन निःशेष हो गया है तुम्हारा
चले जाओ¨?

संभावित रचनाकाल : 1971-72

कि उसका अंत कहाँ होगा

आदमी जब गिरना शुरू करता है
तो ढाल से लुढ़कते हुए पत्थर की तरह
कोई नहीं कह सकता
कि उसका अंत कहाँ होगा

बहुत कम खुशकिस्मत होते हैं
जिन्हें किसी पेड़ का सहारा
या झाड़ का संबल मिल पाता है।
और इनमें ऐसे तो और भी कम
जो बीच में अटककर
फिर ऊपर चढ़ने की सोचें
ज़्यादातर लोग
अवलंब की तरफ झुकते हैं
सुविधा का रास्ता वही है

इसलिए
बने-बनाए रास्ते के बावजूद
जब कोई बार-बार
ढाल से फिसलकर
ऊपर चढ़ने की ज़िद करता है
या चढ़ जाता है

तो मेरे खून का प्रवाह बढ़ जाता है
एक अजीब-सी आत्मीयता
मन में अनुभव करता हूँ
मेरा स्वभाव ही ऐसा है
क्योंकि मैं चालीसवीं बार
इस तलहटी में सिर ऊँचा किए खड़ा हूँ
ज़रूरी नहीं कि मेरे पाँव
मेरा साथ दें या मैं
फिर एक बार वहाँ पहुँचूँ ही जहाँ से गिरा हूँ
लेकिन कुछ आँखें मुझे देख रही होंगी
कुछ हृदय मुझे अनुभव कर रहे होंगे
मेरे लिए कुछ रिश्ते जन्म ले रहे होंगे
जिनकी खातिर बार-बार
विफलता भी अच्छी लगती है

ऐसा लगता है
इस ढाल या चढ़ाई में मैं अब अकेला नहीं हूँ
बचपन में देखे हुए दृश्य की तरह
जब गरीबा चालीस बेंत खाकर भी
यही कहता रहा—हुज़ूर, मेरी खता नहीं है
मेरा स्वभाव ही ऐसा है
इसलिए चालीसवीं बार
इस चढ़ाई की ओर नज़रें उठाए खड़ा हूँ
और यह मेरी खता नहीं है।

चालीसवें जन्मदिवस पर/11 सितंबर, 1973

एक मकान के बारे में

जी हाँ! यह मेरा मकान है
किराए को खाली है।
इसमें सारी ज़रूरत की चीज़ें हैं
जैसे, बिजली के पंखे, वाश-बेसिन और फ्लश

और सात-आठ हवादार कमरे हैं,
आप अगर चाहें तो कमरों में और दरवाज़े खुलवा लें,
उधर एक बड़ा-सा बगीचा है
चाहें तो वहाँ और मनपसंद पौधे लगवा लें,
यों इस अहाते की
दीवारें नीची नहीं हैं—
आप अगर चाहें तो उन्हें और ऊँची उठवा लें।

जी हाँ, यह बनी-बनाई इमारत
मेरे पिता मेरे नाम कर गए थे।
वे मेरी रुचियों से परिचित नहीं थे
फिर भी मकान की
सजावट का पूरा काम कर गए थे।
जैसे उन्होंने कार्निस पर चिड़ियों के घोंसले बनवाए
और छतों पर नक्काशी कराई थी,
काश के खिलौनों के,
कई खूबसूरत नमूने मँगवाए थे
ड्योढ़ी के किवाड़
बहुत मोटे और मज़बूत बनवाए थे।
आप देखिए, आपको ज़रूर पसंद आएँगे।

आजकल अच्छे मकानों की बहुत कमी है।
वैसे इसमें
छतों की तरह,
आँगन का फर्श भी पक्का है;
किसी ज़माने में लोग यहाँ फर्श ही देखने आए थे।
पाँव उस पर फिसलते नहीं हैं,
उन्होंने फर्श में रँगे हुए—
पत्थर के, कीमती चौकोर टुकड़े लगवाए थे।
जी हाँ—
अब मुझे यह किराए पर उठाना है।
वजह?
बस यह समझिए कि मेरे लिए इसमें रहना
किसी दूसरे के बनाए हुए साँचों में

ढल जाना है।
मैंने कई बार सोचा है–
कि ईंट, सीमेंट और गारे-चूने से
ज़रा-सा नक्शा बदलकर ही सब घर बने होंगे,
फिर भी घर की मेरी एक अपनी रूपरेखा है;
यह जानते हुए भी कि
दीवारें हर घर में होती हैं
मैंने अपनी पसंद का एक घर देखा है।

जी नहीं, मुझे क्या एतराज़ हो सकता है,
आप इसमें जो चाहें, तब्दीली करें,
खुद मेरा मन कभी-कभी करता है
कि ये जो सिर पर नक्काशीदार छत है,
इसे फोड़ दूँ।
वह जो पहला दरवाज़ा आसानी से खुलता नहीं है
उसे ठोकरों से तोड़ दूँ।
और इस पुरानी तस्वीर का
फ्रेम बदल दूँ।
या इस मकान को यहीं से छोड़कर
कहीं और चल दूँ।
लेकिन आप जानते हैं–
मैं एक बाल-बच्चेदार आदमी हूँ।
बहुत सारी बातें हैं···
बहुत-से लिहाज़ हैं,
इसलिए अब तक यहीं हूँ।
पर आप यकीन करें कि मैं
इस मकान में
आज तक इत्मीनान से सोया नहीं हूँ।
मन में एक तलाश-सी बनी है।
यानी रुचि और परिस्थिति में तनातनी है।
जी हाँ···एक अजीब-सी मजबूरी है
यों समझिए कि अब इसे तोड़ना या छोड़ना निहायत ज़रूरी है।

1 सितंबर, 1973, मध्य प्रदेश के 'संदेश' में प्रकाशित

उत्तरदाता

उफ, यह भी विडंबना है
धरती से आसमान तक,
दिशाओं के बाहर पैर फैलाने को आकुल
जो स्वयं एक प्रश्न की तरह
पसरा हुआ है,
तुम उसी से पूछते हो
कि जब चारों ओर आग लगी थी
और लोग रो रहे थे
तब मैं क्या कर रहा था?
जानकर भी अनजान बनने का
तुम्हारा यह अंदाज़ नया नहीं,
तुम्हें मालूम है—
वक्त ने मेरे सीने पर ही
जंग के हाथी और घोड़ों की चाल चलना सीखा है,
सिकंदर और तैमूर के
घोड़ों की टापों की तरह
उसके पाँवों के निशान
मेरे सीने पर आज भी उभरे हैं।
तुम अंधे हो,
अँधेरे ने नहीं,
रोशनी के पाखंडों और प्रपंचों ने
तुम्हें अंधा किया है।
तुम बहरे हो,
सभी यातनाओं को सहते हुए,
बेबस और बेकसों के मौन ने
तुम्हें बहरा किया है,
तुम भूल गए हो
भूलना तुम्हारी आदत है।
उस दिन,
जब तमाम लोगों ने
शटल कॉक की तरह उछालकर
मुझे धरती पर पैर टेकने की मनाही कर दी थी,

मैं तुम्हारे पास पहुँचा था
और तुमने एक व्यंग्य की हँसी हँसते हुए
दूसरे ही क्षण
फिर से उछाले जाने के लिए,
मुझे उन्हीं लोगों के हाथों में सौंप दिया था।
मुमकिन है,
तुम सचमुच इसे भूल गए हो,
ठीक उसी तरह भूल गए हो
जिस तरह तुम्हें आज याद नहीं
कि तुम कितनी बार झूठ बोले हो,
कितने तड़पते हुए लोगों की साँसें चुराई हैं?
एक क्षण की हँसी के लिए
कितनी पीढ़ियों को रोने के लिए मजबूर किया है,
या कितनी लड़कियों को
कब और कैसे इशारे किए हैं!
यह भी मुमकिन है
कि एक बार फिर हँसने के लिए ही
तुमने मेरी बेचारगी से छेड़खानी की थी।
जब देश जल रहा था,
जब लोग मर रहे थे,
तो तुम क्या कर रहे थे?
ऐसे बेहूदा और बेशर्म सवाल
केवल वे ही कर सकते हैं
जो कौम से और कौमियत से अलग रहकर भी
उसके ठेकेदार बनने का ढोंग रचते हैं।
बुद्धिजीवी, कवि अथवा कलाकार
मुझे तुम कुछ भी कहो
मैं नागरिक हूँ, आदमी हूँ, जनता हूँ,
और यदि तुम समझ सकते हो
तो यह भी समझ लो
कि मैं ही देश हूँ।
उन पूँजी-जीवियों और नेताओं में
मेरी गिनती करना फिज़ूल है
जो कौम को बैसाखी बनाकर चलते हैं

और अपनी नाकामियों का दोष दूसरों पर मढ़ते हैं।
तुम पूछते हो
जब देश जल रहा था,
जब लोग भूखों मर रहे थे
तब मैं क्या कर रहा था?
तो सुनो,
तुम शायद समझ सको,
शायद न भी समझ सको,
मैं ही वह देश हूँ
जो जल रहा था और
जल रहा है,
मैं ही वह लोग हूँ
जो भूखों मर रहे थे और मर रहे हैं।
जलने वालों से,
भूखों मरने वालों से,
मुझे अलग न करो
मुझे मेरे देश से अलग न करो।
मैं स्वयं ही वह प्रश्न हूँ
जो तुमसे पूछता है
कि तुम क्या कर रहे थे,
क्या कर रहे हो?
मैं जानता हूँ,
तुम मेरा उत्तर न दोगे,
देना नहीं चाहोगे,
दे भी नहीं सकोगे,
प्रश्न पूछकर तुम देश से जुड़ने का
बहाना करते हो।
खैर, मैं आज प्रश्न ही सही
मैं ही कल उत्तर बनूँगा
मैं ही कल उत्तर बनूँगा।

1973 के आसपास

जलता सच

हमारे पास क्या है
होंठों में जलता हुआ सच है
और भीतर दहकते हुए न्याय की दुहाई
हमारे हाथ क्या है केवल कलम है

हम जानते हैं कि इस तंत्र में
क्रिया और कारक कोई और है
जिसके मुँह से निकलती बात
नोट करने के लिए
कलमें अपने आप चलने लगती हैं
हमें यह भी पता है
कि कागज़ की तरह हम केवल
अंकित होते जाने को अभिशप्त हैं
हमें यह हक नहीं है
कि अपने सीने पर
उगे हुए और उगते हुए झूठ को काट दें
या फिर स्याही के लिए
सिरदर्द हो जाएँ
लेकिन मेज़ पर बिखरी हुई फाइल की तरह
हमारा व्यक्तित्व होता तो
हमें इस बेचैनी।

अधूरी/1972-73

सुबह हुई

एक कार तेज़ी से चिल्लाती भागती हुई
घर के आगे से निकल गई
सुबह हुई...

आँखें मलती नन्ही बिटिया-सी
जगी हुई धूल उठी
बाहर के आँगन में
पसर गई
सुबह हुई...

किसी ने पुकारा—दूध
और वही रोज़-रोज़ सुने हुए
कल्पित आरोप
और खुद को
ईमानदार साबित करने वाली
ऊँची आवाज़ें सुन
मुझमें फिर एक नया व्यक्ति जागा
मैंने अपने भीतर निहारा था रात जिसे
बातें की थीं रात-भर
भाग गया...
सुबह हुई...

चादर को फेंककर अकड़ता और अँगड़ाता
रात की सुषुप्ति और तंद्रा का संधाता
मेरे भीतर वह दूसरा मनुष्य उठा
आगे बढ़कर उसने
जाते हुए दूध वाले को गालियाँ दीं
आँगन में पड़ी हुई धूल और बच्ची को
बाँहों में उठा लिया
चुमकारा
कार्य-व्यस्त पत्नी से कहा—
"दूध ज़रा कम"
सुबह हुई...

1973-74

जलते हुए वन का वसंत

भूमिका

ये कविताएँ इसी हद तक मेरी हैं कि मैंने इन्हें लिखा और भोगा है। यदि आपको इनमें पहचाना-सा स्वर, आत्मीय-सी भाषा और अपनी-सी बात नज़र आए तो यह मेरी सफलता है।

मेरे पास कविताओं के मुखौटे नहीं हैं। अंतर्राष्ट्रीय मुद्राएँ नहीं हैं और अजनबी शब्दों का लिबास नहीं है। मैं एक साधारण आदमी हूँ और इतिहास और सामाजिक स्थितियों के संदर्भ में, साधारण आदमी की पीड़ा, उत्तेजना, दबाव, अभाव और उसके संबंधों के उलझावों को जीता और व्यक्त करता हूँ।

मैं कविता को चौंकाने या आतंकित करने के लिए इस्तेमाल नहीं करता, गो कि ऐसा करके लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा जा सकता है। परंतु कविता से केवल यह अपेक्षा कितनी कम है। मैं जानता हूँ कि अहसास के अनेक स्तरों को चीरती हुई, व्यक्तित्व के भीतर दूर तक उतर जाने वाली चीज़, कविता होती है। उसे इतनी छोटी भूमिका नहीं दी जा सकती। समाज और व्यक्ति के संदर्भ में उसका दायित्व इससे बहुत बड़ा है।

हो सकता है, मैं कविता को कुछ ज्यादा ही महत्त्व दे रहा हूँ, क्योंकि जहाँ तक मेरी बात है, वह राजनीतिक, सामाजिक और वैयक्तिक, हर स्तर पर, हर लड़ाई में मेरे लिए एक भरोसे का हथियार है।

ऐसा नहीं कि उसके सहारे मैं सारे युद्ध जीत ही लेता हूँ या सारी चोटें सीने पर ही सहता हूँ···पर इतना ज़रूर है कि वह मुझे पहल करने और जवाब झेलने की शक्ति देती है और बड़ी चुनौतियाँ स्वीकार करने का साहस।

जैसे चिंतन की परिधि में एक ऐसा स्थल होता है, जहाँ पहुँचकर हम और आगे सोचते हुए डरते हैं। हमारा लौकिक विवेक विचारों के हहराते सागर से घबराकर वापस लौट चलने को मचल उठता है··लेकिन वहीं, कविता की खोज में कवि, निर्द्वंद्व भाव से जल की गहराइयों में उतरता चला जाता है (देखिए 'अवगाहन')।

यहीं से कविता शुरू होती हो—यह ज़रूरी नहीं। शायद यहाँ से भी होती हो।

पर मेरे लिए कविता यातना से पैदा होती है। यह एक दिलचस्प प्रक्रिया है कि छोटी-मोटी चोटें तो मेरे व्यक्ति के पास तक पहुँचकर रुक जाती हैं, लेकिन जिन्हें मैं यानी मेरा व्यक्ति नहीं झेल पाता, वे भीतर पहुँच जाती हैं, कवि के पास तक; और मैं सहसा नहीं जान पाता कि कब, क्योंकर, कौन-सी कचोट वहाँ तक चली गई?

मेरे लिए मनुष्य-मात्र की अवमानना सबसे अधिक कष्टप्रद है। उस पर मेरी प्रतिक्रिया नितांत व्यक्तिगत ढंग से होती है। मगर चूँकि मैंने अपने आपको सारे अनुभवों के लिए खुला छोड़ रखा है इसलिए मैं भीड़ का एक हिस्सा भी हूँ और मेरी पीड़ा इसीलिए केवल मेरी नहीं रह जाती। मैं आपके और आप मेरे सुख-दुःख का समभोगी बन जाते हैं।

यह मेरी कविताओं का तीसरा संग्रह है। पहले दोनों संग्रहों में सिर्फ़ कविताएँ थीं, भूमिका नहीं। इसमें इस छोटी-सी भूमिका द्वारा मैंने पाठक से संलाप की स्थिति पैदा की है। शायद इधर की नई कविताओं में कविता खोजने की उसकी कोशिश को इससे कुछ बल मिले या शायद उसके बीच मुझे 'प्लेस' करने में उसे सुविधा हो।

तय है कि पाठक ही कल निर्णायक की भूमिका अदा करेगा। इसलिए हमारे आलोचक यदि सो रहे हैं तो उन्हें जगाना ज़रूरी नहीं, परंतु पाठक से यह पूछना बहुत ज़रूरी है कि वह कविता के संदर्भ में आज क्या सोचता है? और क्या कविता उस तक पहुँच रही है?

मैं ऐसे हवाई पाठक की कल्पना नहीं करता, जिसके बौद्धिक आयाम मेरे साँचों से मेल खाते हों। मैं तो खुद पाठक के रूप में, उस कविता की खोज में हूँ जो हर व्यक्ति की कविता हो और हर कंठ से फूटे।

दुष्यन्त कुमार

भाषा-विभाग
भोपाल

अवगाहन

वह मेरा सहजन!
हाय! वह मेरा सखा!
आज नदी में उतरता है।

उसने सब कपड़े उतारकर
किनारे पर फेंक दिए,
यह सोचे बिना कि कार्तिक में कितनी ठंड होती है,
सुबह-सुबह नहाने की ठान ली।
पैनी हवाओं ने
जब उसके जिस्म को झिंझोड़ा,
तो उसने एक कदम थोड़ा पीछे हटकर उठाया।
अब वह फिर दूसरा कदम आगे धरता है।
लो, अब वह नदी में उतरता है।

माना उसके मन की तरह है यह नदी,
उसने इस बालू में घरौंदे बनाए हैं,
लहरों पर लिखे हैं किलोलों के दृश्य,
कई बार नाव लेकर गया है उस पार,
किंतु अधिक लग रहा है विस्तार आज कोहरे में
तट की परछाईं
एक मगरमच्छ की तरह उभर आई।
वह खुद अपरिचित की भाँति
आज परिचित से डरता है।
लेकिन वह नदी में उतरता है।

उसे पता है—कहाँ भँवर हैं जल में
कहाँ गहरा है,
शंख और सीपियाँ कहाँ हैं?

लेकिन वह धारा में खोया खड़ा है!
शायद वह मना रहा है—कोई आए,
उसके हाथों से फिसल रहे बालू-कण देखे,
उसके तलुओं से दबी हुई सीपियाँ उठाए,
उनमें झाँके—
उनसे मोती निकाले,
डूबते हुए का साक्ष्य बनकर सुख पाए।
हाय! पानी में कैसी छलल-छलल होती है,
जब कोई डूबकर मरता है!
देखो, वह नदी में उतरता है।

अरे—उसे रोको—वह गिरा!
अभी खड़े-खड़े पानी पर फिसल गया।
मुझे पता है, उसे तैरना नहीं आता,
देखो, वह दृश्य की सीमा से आगे—
बहुत आगे—
अदृश्य तक निकल गया! आह!
मैं तो यहाँ तक कभी आया नहीं हूँ।
मैंने यहाँ तक कभी सोचा नहीं है।
उसने कब तिरना सीख लिया!
वह कैसे धारा में अनायास डुबकियाँ लगाता है,
डूबकर उभरता है।
वह देखो, नदी पार करता है।

रचनाकाल : 1970/'धर्मयुग', जुलाई, 1970 में प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

इतिहास-बोध

इतिहास मेरे साथ न्याय करे
मैंने स्वार्थों की वेदी पर
नरबलियाँ दी हैं
और तीर्थों में दान भी किए हैं।

(उपक्रम से)/रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

योग-संयोग

मुझे—
इतिहास ने धकेलकर
मंच पर खड़ा कर दिया है,
मेरा कोई इरादा नहीं था।

कुछ भी नहीं था मेरे पास,
मेरे हाथ में न कोई हथियार था,
न देह पर कवच,
बचने की कोई भी सूरत नहीं थी।
एक मामूली आदमी की तरह
चक्रव्यूह में फँसकर—
मैंने प्रहार नहीं किया,
सिर्फ चोटें सहीं,
लेकिन हँसकर!
अब मेरे कोमल व्यक्तित्व को
प्रहारों ने कड़ा कर दिया है।

एक बौने-से बुत की तरह
मैंने दुनिया को देखा
तो मन ललचाया!
क्योंकि मैं अकेला था,
लोग-बाग बहुत फासले पर खड़े थे,
निकट लाया,
मुझे क्या पता था—
आज दुनिया कहाँ है!
मैंने तो यों ही उत्सुकतावश
मौन को कुरेदा था,
लोगों ने तालियाँ बजाकर
एक छोटी-सी घटना को बड़ा कर दिया है।

मैं खुद चकित हूँ,
मुझे कब गाना आता था?
कविता का प्रचलित मुहावरा अपरिचित था,
मैं सूनी गलियों में

बच्चों के लिए एक झुनझुना बजाता था;
किसी ने पसंद किया स्वर,
किसी ने लगन को सराहा,
मुझसे नहीं पूछा,
मैंने नहीं चाहा,
इतिहास ने मुझे धकेलकर,
मंच पर खड़ा कर दिया है,
मेरा कोई इरादा नहीं था।

'धर्मयुग' के 19 जुलाई, 1970 अंक में प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

यात्रानुभूति

कितना कठिन हो गया है
किसी एक गाँव से गुज़रकर आगे जाना!

ओसारों में बैठे हुए बूढ़े बर्राते हैं,
लोटे में जल भरकर महरियाँ नहीं आतीं
स्वागत नहीं करते बच्चे—राहगीरों पर
कुत्ते लहकाते हैं।

इस ठहरी और सड़ी हुई गरमी में
कहीं भी पड़ाव नहीं मिलते
अँधेरे में दिखते नहीं दूर तक चिराग!
थके हुए पाँवों के ज़ख्म
जलती हुई रेत में सुस्ताते हैं।

यक-ब-यक—तेज़ी से बदल गए हैं
गाँवों के पनघट और सुंदरियों की तरह
—सारे रिवाज
यात्रा में आज
अर्थ भले हो, लेकिन मज़ा नहीं।
लोग-बाग फिर भी
एक गाँव से दूसरे गाँव को जाते हैं।

'धर्मयुग', 5 अप्रैल, 1970, अंक में प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

उपक्रम

सृजन नहीं
भोग की क्षणिक आकांक्षाओं ने
उदासीन ममता के दर्द से कलपते हुए
मेरा अस्तित्व रचा : निरुपाय!
बचपन ने चलना सिखाने के लिए
मुझे पृथ्वी पर दूर तक घसीटा।

मेरा जन्म
एक नैसर्गिक विवशता थी
दुर्घटना
आत्म-हत्यारी स्थितियों का समवाय!
मुझे अनुभव के नाम पर परिस्थिति ने
कोड़ों से पीटा।

मेरे भीतर और बाहर
खून के निशान छोड़ती हुई आँधियाँ गुज़रीं,
और मैं
काँधे पर सलीब की तरह
ज़िंदगी रखे...आगे बढ़ा।
मैंने देखा—
मेरे आगे और पीछे किसी ने
दिशा-दंशी सर्प छोड़ दिए थे!
मैंने हर चौराहे पर रुककर
आवाज़ें दीं
खोजा
उन लोगों को
जो मुझको ईसा बनाने का वादा किए थे!

इतिहास मेरे साथ न्याय करे!
मैंने एक ऐसी तलाश को जीवन-दर्शन बनाया
जो मुझको ठेलते जाने में
सुख पाती है,
एक ऐसी सड़क को मैंने यात्रा-पथ चुना
जो मिथ्याग्रहों से निकलती हुई आती है।

एक नीम का स्वाद मेरी भाषा बना
जो सिर्फ तल्खी का नाम है।
एक ऐसा अपवाद मेरा अस्तित्व
जो मेरे नियंत्रण से परे
एक जंगल की शाम है।

सृष्टि के अनाथालय में मैंने
जीने के बहाने तलाशने में
मित्रों को खो दिया!
भूखे बालकों-सी बिलखती मर्यादाएँ देखीं,
बाज़ारू लड़कियों-सी सफलताएँ सीने से
चिपटा लीं,
मुझमें दहकती रहीं एक साथ कई चिताएँ,
धरती और आकाश के बीच
कई-कई अग्नियों में
गीले ईंधन की तरह मैं सुलगता रहा,
निरर्थक उपायों में अर्थवत्ता निहारता हुआ;
कंठ की समूची सामर्थ्य
और
थोड़े-से शब्दों की पूँजी के बल पर
अपनी निरीहता सहलाता हुआ!
जीने से ज़्यादा तकलीफदेह
क्या होगी मृत्यु!

इतिहास मेरे साथ न्याय करे!
मैंने हर फैसला उस पर छोड़ दिया है।
मैंने स्वार्थों की वेदी पर
नर-बलियाँ दी हैं
और तीर्थों में दान भी किए हैं,
मुझमें हुई हैं भ्रूण-हत्याएँ
मैंने मूर्तियों पर जल भी चढ़ाए हैं,
परिक्रमाएँ भी की हैं,
मेरी पीड़ा यह है—
मैंने पापों को देखा है,
भोगा है,
छुआ है,

किया नहीं,
मैं हूँ अभिशप्त
उस वध-स्थल की तरह,
जिसमें रक्तपात होना था : हुआ,
लेकिन
मैं कर्ता नहीं था कहीं!
जीवन-भर उपक्रम रहा हूँ एक,
अर्थ नहीं।
इतिहास मेरे साथ न्याय करे।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

कवि-धर्म

पार्थ हूँ न चाहे मैं
किंतु महाभारत-सा युद्ध सामने है
कृष्ण हो न चाहे तुम
किंतु तुम्हें अश्वों की डोर थामनी है
...देर मत करो अब, हाँ
चंचल इन अश्वों को काबू में कर लो
और रथ बढ़ाओ।

मेरा रथ मोड़ो पहले
टीन के कनस्तरों की बस्ती में
बदबू से भरी हुई उन सँकरी गलियों में
आँगन की सीलन जहाँ
खून की हरारत
और गर्मी सोख लेती है
दीवारों की छाँह जहाँ
माथे के तनावों
और आँखों के चिरागों पर राख पोत देती है
भूख जहाँ आदमी पर
चीलों-सी घिरती है

संगीनें लिए इक अदृश्य फौज फिरती है
गैस के गुब्बारों-से
ज़िंदगी के ख्वाब जहाँ उड़ते हैं
हवाओं के बच्चे जिन्हें
छूकर फोड़ देते हैं
लाश जहाँ घर-घर में
जीती है, चलती है
मोमबत्तियों-सी जहाँ
युवा उम्र जलती है।
दर्द नहीं
छोह नहीं
कोई विद्रोह नहीं
चौतरफा छाया जहाँ
अँधियारा गहरा है
दिलों पर, उमंगों पर
बुज़दिली का पहरा है
केवल सहना
केवल चुप रहना
सहते जाना...।

कीड़ों की तरह बिलबिलाती हुई साँसें जहाँ
कभी सिर उठाती हैं
जीने की आशाएँ
चिकनी मछलियों-सी
हाथों में आती हैं
और निकल जाती हैं।
हाँ, यहीं रोको रथ
धनुष की प्रत्यंचा चढ़ाने दो।
किंतु ये भरोसा है चूक नहीं पाएँगे
जहाँ मैं कहूँगा वहीं जाकर टकराएँगे

पार्थ हूँ न चाहे मैं
कृष्ण हो न चाहे तुम
किंतु
अगर मेरा मन करुणा से दुर्बल हो

अगर कभी हाथों में धनुष-बाण कँप जाए
कभी पलक झँप जाए
तो तुम युगधर्म का हवाला देना मुझको
तेरा वह उद्‌बोधन
गीता मत हो चाहे
किंतु मुझे स्थिरता देगा ही
सोखेगा करुणा का सिंधु
जो उमड़ता है
और मोह तोड़ेगा
लड़ने के लिए शिथिल अंग-अंग जोड़ेगा
नए मनोबल से
आपद के समय बहुत बड़ा बल मिलता है

यहीं खड़ा कर लो रथ
सारथी ओ, देखो तो
बहुत बड़ा घेरा
जगह-जगह शत्रुओं की फौज़ों का डेरा है
नगर-नगर
द्वार-द्वार
कोई कुरुक्षेत्र नहीं
कोई नहीं साथी है
धुएँ की चढ़ाई-सी धुंध है, अँधेरा है
···और ये अँधेरे में सपने···नहीं अपने हैं
ये मेरा भाई है आँखों में फंदों का जाल लिए
हाथों में छुरा लिए ये मेरा भतीजा है
हिंसा का भाव लिए
वह मेरा कुनबी है
घृणा भरे माथे पर
मित्र है, फुफेरा है
···ये मेरे अपने हैं···
किंतु···नहीं···नहीं···नहीं
बहक गया
मित्र तनिक बोलो तुम

बातों का उत्तर दो
मोह-ग्रंथि खोलो तुम
दुर्बल मन कँपता है
मुझमें सामर्थ्य भरो

युद्धस्थल में सबके सम्मुख आ जाने दो
बंधु नहीं मिथ्या है
बंधु नहीं विषधर हैं
शत्रुओं की व्यूहबद्ध सेना पर
शब्दों के बाण बिखर जाने दो

कृष्ण हो न चाहे तुम
पाथ हूँ न चाहे मैं
किंतु महाभारत का युद्ध जीतना ही है…

एक सफर पर

और
मैं भी
कहीं पहुँच पाने की जल्दी में हूँ—
एक यात्री के रूप में,
मेरे भी
तलुओं की खाल
और सिर की सहनशीलता
जवाब दे चुकी है
इस प्रतीक्षा में, धूप में,
इसलिए मैं भी
ठेल-पेल करके
एक बदहवास भीड़ का अंग बन जाता हूँ,
भीतर पहुँचकर
एक डिब्बे में बंद हो पाने के लिए
पूरी शक्ति आज़माता हूँ।

...मैं भी
शीश को झुकाकर और
पेट को मोड़कर,
तोड़ने की हद तक
दोनों घुटने सिकोड़कर
अपने लवाज़मे के साथ
छोटी-सी खिड़की से
अंदर घुस पड़ता हूँ,
ज़रा-सी जगह के लिए
एड़िया रगड़ता हूँ।

बहुत बुरी हालत है, डिब्बे में
बैठे हुओं को
हर खड़ा हुआ व्यक्ति शत्रु,
खड़े हुओं को बैठा हुआ बुरा लगता है,
पीठ टेक लेने पर
मेरे भी मन में
ठीक यही भाव जगता है।
मैं भी धक्कम-धू में
हर आने वाले को
क्रोध से निहारता हूँ,
सहसा एक और अजनबी के बढ़ जाने पर
उठकर ललकारता हूँ।

किंतु वह नवागंतुक
सिर्फ मुस्कराता है।
इनाम और लाटरियों का
झोला उठाए हुए
उसमें से टॉर्च और ताले निकालकर
दिखाता है।
वह कोई साधारण व्यक्ति नहीं
वह सबको भाषण पिलाता है,
बोलियाँ लगाता-लगवाता है,
पल-भर में जनता पर जादू कर जाता है।

और मैं उल्लू की तरह
स्वेच्छया कटती जेबों को देखकर
खीसें निपोरता हुआ बैठ जाता हूँ।
जैसे मेरा विवेक ठगा गया होता है।
वह जैसे कहीं एक ताला
मेरे भीतर भी लगा गया होता है।

थोड़ी देर बाद
तालों और टॉर्चों को
देखते-परखते हैं लोग
मुँह गालियों से भरकर,
जेब और सीनों पर हाथ धरकर।
आखिर बक-झक कर थक जाते हैं
फिर...
यात्रा में वक्त काटने के लिए
बाज़ारू साहित्य उठाते हैं,
या एक-दूसरे की ओर ताकते हैं,
ज़नाने डिब्बों में झाँकते हैं।
लोग : चिपचिपाए हुए,
पसीनों नहाए हुए,
डिब्बे में बंद लोग!
बड़ी उमस है—आह!
सुख से सो पाते हैं, इने-गिने चंद लोग!
पूरे का पूरा वातावरण है उदास।
अजीब दर्द व्याप्त है :
बेपनाह दर्द
बेहिसाब आँसू
गर्मी और प्यास!

एक नितांत अपरिचित रास्ते से
गुज़रते हुए पा-पी पा-पी
पहियों की खड़-खड़ की कर्कश आवाज़ें,
रेल की तेज़ रफ्तार,
धक-धक धुक-धुक

चारों ओर :
जिसमें एक-दूसरे की भावनाएँ क्या
बात तक न सुनी और समझी जा सके :
ऐसा शोर :
आपाधापी
और एक-दूसरे के प्रति गहरा संशय
और उसमें
बार-बार लहराती
लंबी और तेज़-सी सीटी
जैसे कोई इंजन के सामने आ जाए···!
(भारतीय रेल में
हर क्षण दुर्घटना का भय)

हर क्षण ये भय··
कि अभी ऊपर से कुछ गिर पड़ेगा!
पटरी से ट्रेन उतर जाएगी!
हर क्षण ये सोच
कि अभी सामने वाला
कुछ उठाकर ले भागेगा,
मेरा स्थान कोई और छीन लेगा।
···और सुरक्षा का एकमात्र साधन
अपने स्थान से चिपक जाना,
कसकर चिपक जाना।
बाहर के दृश्य नहीं,
ऊपर की बर्थ पर रखे सामान पर
नज़र रखना,
खुली हुई कीमती चीज़ों को
दिखलाकर ढँकना।
बहन और बच्चों को
फुसफुसाहट भरे उपदेशों से भर देना,
अपने प्रति
इतना सजग और जागरूक कर देना
कि वे भविष्य में अकेले सफर कर सकें।
इसी तरह अपने स्थान पर चिपके

शंकित और चौकन्ने होकर
हर अजनबी से डर सकें।

यात्रा में लोग-बाग
सचमुच डराते हैं।
आँखों में एक विचित्र मुलायम-सी
हिंस्र क्रूरता का भाव लिए—
एक-दूसरे का गंतव्य पूछते हुए
दोस्ती का हाथ बढ़ाते हैं,
सहमकर मुस्कराते हैं,
सोचते हैं...
किसी पास वाले स्टेशन पर
ये सब लोग क्यों नहीं उतर जाते हैं?

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

गति का गीत

करने को शीश और हाथ बहुत
चलने को पाँव और साथ बहुत
बढ़ने को राह बहुत
मन में उत्साह बहुत
गति का यह गीत रुक न जाए
आखिर बिखराव कहाँ बाँधोगे
बढ़ते चलो निरंतर है राह बहुत।

परवर्ती प्रभाव

स्थान : एक युद्ध हुआ चौराहा।
दृश्य : वहाँ फूटे हुए ढोलों की चुप्पी :
लोगों की चिल्लाहट, मौन,

रक्तस्राव!
लड़ना नहीं
गर्दन झुकाए हुए पास से गुज़र जाना—;
परस्पर बधिर-भाव,
गहन शांति!

ध्वनि : उस अँधेरे में
बाण-बिद्ध पंछी की
कातर पुकारती-सी कोई आवाज़,
मुझे लैंपपोस्ट की चिमनियों के
पास फड़फड़ाती, पंख मारती-सी कोई आवाज़,
अनसुनी, अनुत्तरित, उपेक्षित किंतु
दूर तक गुहारती-सी कोई आवाज़!
अर्थ : मुझे लगता है मुझमें से आती है,
लगता है मुझसे टकराती है!
आह!
छोटी-सी उम्र में देखे हुए
किसी नाटक की छोटी-सी स्थिति वह
अब तक मुझमें
मौके-बेमौके जी जाती है।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक मनःस्थिति

आज फिर ऐसा लगा
मुझमें बड़ी सामर्थ्य है
जी रहा हूँ जोकि मैं
उस ज़िंदगी का अर्थ है।

कल्पना ऐसी लगी जैसे
कि वह सपना नहीं,
सामने ठहरा हुआ
दुर्भाग्य ही अपना नहीं।

खिल उठे शैवाल के-से
फूल सूखी झील में
पंछियों के झुंड
मँडलाने लगे नभ नील में।

बिजलियाँ कौंधी नयन में
मन गगन-सा खिल गया
मौन का पर्वत हुआ मुखरित
हवा से हिल गया।

मुसकराने लग गई
मायाविनी - सी ज़िंदगी
एक तंद्रिल स्वप्नशीला
मोह-निद्रा से जगी

आज फिर ऐसा लगा
बाँहें बढ़ा दूँ सामने
शून्य में उत्सुक खड़ा
कोई सहारा थामने।

शगुन-शंका

अब इस नुमाइश की छवियाँ
आँखों में गड़ती हैं,
क्या यह बुरा शगुन है?

पारसाल घर में
मकड़ियाँ बहुत थीं,
लेकिन जाले परेशान नहीं करते थे।
बच्चे उद्धत तो थे—
दिन-भर हल्ला मचाते थे।
फिर भी वे कहा मान लेतें थे, डरते थे।
अब तो मेरी कमीज़ें

उन्हें छोटी पड़ती हैं,
क्या यह बुरा शगुन है?

पारसाल बारिश में
छत बहुत रिसी थी,
लेकिन गिरने का खतरा नहीं था।
जैसे सम-सामयिक विचार
मुझे अकसर अखरते थे
लेकिन मैं उनसे इस तरह
कभी चौंका या डरा नहीं था,
अब मेरे आँगन में रोज़
बिल्लियाँ लड़ती हैं।
क्या यह बुरा शगुन है?

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

परिचित आवाज़

बचपन में कभी एक हॉकर की
परिचित आवाज़
मुझे विह्वल कर जाती थी
गली गूँज उठती थी
औ' खाली जेबों में हाथ
खाली हाथों पर बार-बार नज़र जाती थी
फिर उसके दूर चले जाने तक
आत्मा में बहुत उभर आती थी
बचपन में···

और आज यौवन में
एक और आवाज़
मेरे अस्तित्व पर घुमड़ती मँडलाती है
गली से नहीं
मेरे रंध्र-रंध्र से रिसती
मेरे व्यक्तित्व को झिंझोड़ती-सी आती है

गूँज-गूँज उठता है
चेतना का हर स्तर
पानी की तरह मुझे चीरती कँपाती है
और वही विह्लता
और वही परवशता
और फिर अभावों का वही बोझ
आत्मा उठाती है
परिचित आवाज़ एक
याद बड़ी आती है
हर घड़ी सताती है

भोपाल के दिनों की रचना/1970 के आसपास

चेहरे पर प्रश्न

मैंने हर चेहरे पर एक प्रश्न
उगाने की कोशिश की?
आखिर वह कौन-सा सुख है
जो आशाओं को लोरियाँ सुना रहा है?
पालने में पड़े हुए मांस के पिंड पर
जश्न मना रहा है?
कौन-सा भविष्य है
जो बाँहें पसारे खड़ा है?

1970 के आसपास

सुबह : समाचार-पत्र के समय

सुबह-सुबह चाय पर
जबकि हवा होती है—खुनक,
लोग,
समाचार-पत्रों के पन्नों में,

सरसरी नज़र से
युद्ध, विद्रोह, सत्ता-परिवर्तन, अन्न-संकट
और
देशी-विदेशी समस्याएँ पढ़ते हैं,
तब भी मैं पाठक नहीं होता।

आँगन में नई खिली कली,
और द्वार पर निमंत्रण की पुर्ज़ी-सी धूप पड़ी रहती है,
बालों में खोंसकर गुलाब
घर के सामने से गुज़रती हैं सुंदरियाँ,
रंगों के साथ तैर जाते हैं आँखों में साड़ियों के
कई-कई रूप—
किंतु मुखर नहीं होती है कल्पना :
चाय का प्यारा सँभाले
एक सेर गेहूँ या चावल के लिए
सस्ते अनाज की दुकान पर कतारों में
अपने को खड़ा हुआ पाता हूँ,
अथवा
संत्रस्त और युद्धग्रस्त देशों की प्रजा की जमात में—
खड़ा हुआ सोचता हूँ—
कितने खुशकिस्मत थे पहले ज़माने के कवि
अपनी परिस्थिति से बचकर आकाश ताक सकते थे।

सच है—
हमारे लिएं भी कल्पनाओं के आश्रम खुले हैं,
किंतु
चौंकाती नहीं हैं दुर्घटनाएँ,
कितना स्वीकार्य और सहज हो गया है परिवेश
कि सत्य
चाहे नंगा होकर आए, दिखता नहीं है।
लोग मंत्रियों के वक्तव्य पढ़ते हैं
'देश पर अब कोई संकट नहीं है'
और खुशी से उछल पड़ते हैं।
मुनाफे की मूर्तियाँ गढ़ते हैं।
(आह! कल्पना पर भी मंत्रियों और व्यापारियों का एकाधिपत्य है)

मुझमें उत्साह (कल्पना की उड़ान का)
नहीं जागता,
न मैं प्रयत्न कर पाता हूँ—!
उल्टे ये होता है
जबकि कहीं रोगों और मौतों की चर्चा निकलती है
तो सबसे पहला रोगी
और मुरदा—मैं खुद को पाता हूँ।

ईश्वर बेहतर जानता है—
मेरी कल्पना को
जाने किस दृश्य या घटना ने
विदीर्ण कर दिया है—
आज
कोई भी, कैसे भी अधरों का संबोधन मुझे नहीं छूता,
दृष्टि नहीं बाँधता किसी का सौंदर्य
और मैं प्रकृति से भिन्न स्थिति में
भाषा को भोगता हूँ,
शब्दों और अर्थों से परे—एक भाषा
जो श्रव्य नहीं,
जिसके संदर्भ-बहुल अनुभव
मैं जीता हूँ, जीने के लिए विवश होता हूँ...सुबह-सुबह...
चाय की टेबल पर, समाचार-पत्रों में,
जबकि लोग............।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

आत्मालाप

मेरे दोस्त!
मैं तुम्हें खूब जानता हूँ।
तुम—टी॰ टी॰ नगर के एक बँगले में
सुख और सुविधा का जीवन बिताने की कल्पना किए हो,
तुम—शासन की कुर्सी में बैठे हुए

अपने हाथों में मुझे
एक ढेले की तरह लिए हो,
और बर्र के छत्तों में फेंककर मुझे
मुसकरा सकते हो,
मौका देखकर
कभी भी
मेरी पहुँच से बहुत दूर जा सकते हो।

पहले मैं भी और लोगों की तरह
बिलकुल यही समझता था कि मैं और तुम एक हैं,
दोनों यह युद्ध साथ-साथ लड़ रहे हैं,
अपनी जगह
अपने स्थानों से पीछे हट रहे हैं
या आगे बढ़ रहे हैं,
—सिर्फ तुम्हें राजपथ पसंद है,
गलियों की धूल में भटकना नहीं भाता,
पर मेरा नाता
इन्हीं गलियों में बसे किसी घर से है,
जिसके दरवाज़े बंद हैं,
यों मैंने सोचा—यह फर्क
कोई फर्क नहीं है,
क्योंकि तुम जहाँ अकेले पहुँचने का यत्न कर रहे हो,
सभी लोगों के साथ
पहुँचना मुझे भी वहीं है।
चूँकि तुम मेरे साथ-साथ पैदा हुए थे
सोचा—
साथ ही रहोगे,
पीड़ा जैसी भी होगी
उसे मैं भी सहूँगा
और तुम भी सहोगे।

आज मुझे लगता है, पहले भी—
यद्यपि मैंने पहचाना नहीं था,
तुम्हारा सलूक
मेरे साथ दोस्ताना नहीं था;

तुमने हमेशा मुझे ऐसी लोरियाँ सुनाईं
कि मैं बिस्तर में पड़े-पड़े करवटें बदलता रहा,
तुमने हर घटना को इस तरह रँगा
कि मैं अपने ही सम्मुख
अपराधी की तरह हाथ मलता रहा,
मेरा विवेक तुम्हारे एक-एक संकेत का मोहताज बना रहा,
मेरे और दुनिया के बीच का तनाव
ज़रा ज़्यादा ही तना रहा,
मैं अपने व्यक्तित्व को
तुम्हारे नज़रिए से देखता हुआ
झख मारकर गाता रहा,
तुमने प्रमोशन लिए
और मैं गालियाँ खाता रहा।

लेकिन—
यह हरगिज़ ज़रूरी नहीं था (न है)
कि हम एक-दूसरे को उकसाते या उछालते रहें,
एक तोते की तरह
एक-दूसरे को पालते रहें,
उसे खोल से बाहर निकलने न दें,
आसपास की पहाड़ियों पर घूमने न दें,
याकि अपनी प्रेमिकाओं से मिलने न दें,
उन्हें छूने या चूमने न दें।

और इसमें भी कोई नैतिकता नहीं है
कि जहाँ एक पुल बन सकता हो वहीं पुल बनाएँ,
विरोधों के नक्कारखाने में
तूती को ज़ोर से बजाएँ,
हवाओं के डर से घर की टीन को उतारकर फेंक दें,
आशंकाओं के बालू में घुटने टेक दें।
राम-नाम जपें
या माला के मनकों-से सट जाएँ,
बहुत तेज़ चाकू की तरह
एक-दूसरे में उतरें

एक-दूसरे से कट जाएँ।
यह हरगिज़ ज़रूरी नहीं है···
कि हम एक-दूसरे से डरें,
हाँ, एक-दूसरे को समझें
चाहे प्यार न करें।

मैंने कहा था एक बार—तुझे याद है—
कि तू मुझसे बचपन में खुलकर मिला है,
तेरा और मेरा कद एक है—
एक ही नदी है
अपने गाँव के नीचे
जिसका चौड़ा-सा पाट पार करने के बाद वह किला है।
उसकी अटारी पर तू और मैं साथ ही पहुँचते थे।
किंतु आज कहीं भी पहुँचने का रास्ता बंद है,
सिर्फ एक मेरी कमंद है
तू मुझे उठा,
मुझसे मत घबरा।
लेकिन तुमने कुछ सुना नहीं।

और मुझे डर है—इस बार,
तुम मुझे अकेला कर जाओगे,
मोटी-सी दुविधा
या छोटी-सी सुविधा के लिए मर जाओगे,
जीवन के सारे खतरे मुझे झेलने पड़ेंगे,
सिर्फ इस कलम के सहारे
सारे पापड़ बेलने पड़ेंगे।
बड़े-बड़े पर्वत धकेलने पड़ेंगे।
मैं जानता हूँ घबराकर घुटना अच्छी बात नहीं है।
लेकिन यह एक संभावना है···
और इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है।

मैं तो अब भी कहता हूँ—आ, जी तो सही,
लेकिन एक कायर की ज़िंदगी न जी,
एक दोस्त के लिए अपनी नफरत को पी,

मेरे हाथों में हाथ दे,
मुझे पंजों में ढेले की तरह मत उठा
मेरा साथ दे।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

अस्ति-बोध

मुझे एक घर चाहिए था।
मैंने यह मकान बनवाने में बहुत जगह घेर ली।
नीवों में साँसें भर दीं और खुद खाली हो गया।
फूलों की क्यारी से पौधे उखाड़कर वहाँ,
दो बाथरूम चिनवा दिए।
सामान की कमी पड़ी तो परमिट लेने चल दिया।
जाने बैठे-बिठाए क्या सूझी—मैंने
घर का नक्शा बदल दिया।
प्लास्टर करवाने के चक्कर में
कमरों में बिल बनवा लिए।
अब इन चूहों से डरता हूँ, और
इस घर से नफरत करता हूँ
जिसमें रहता हूँ।

मुझे कविता से प्रेम है।
कोरे कागज़ों पर पड़ी थी वर्तमान की राख,
मैंने उसे झाड़कर गिरा दिया।
एक चिड़िया की तरह पंख फड़फड़ाता फिरता था अतीत,
मैंने उसे लेखनी से
मेज़ पर बैठने का इशारा किया।
थोड़ी-सी कल्पना से काम लेकर
मैं लोगों से साफ बच निकला—और
भीड़ में, सुविधा की एक जगह छाँट ली।
मैं धक्का-मुक्की क्यों करता?
मैंने यहाँ-वहाँ थोड़ी-सी तुकें उगाईं—और

कविता की खड़ी—खूबसूरत फसल काट ली। पर...
अब इस कविता से बचता हूँ।
जिसको रचता हूँ।

मैंने बच्चों को युवा बनाने के लिए
एक दफ्तर में नौकरी कर ली।
फोटो खिंचवाने के लिए
थोड़ी-सी हँसी माँग लाया।
अखबार में चेहरा छिपाकर एक सत्य पढ़ लिया।
धीरे-धीरे मैंने अस्तित्व का तर्क गढ़ लिया।
जैसे उस दिन, दीवार गिर पड़ी थी एक बच्चे पर,
किसी ने कहा—आओ देखें।
मैंने घड़ी देखी, नौ बजकर तीस हो चुका था।
मेरा चेक बैंक में रुका था।
मुझे शाम को फिल्म देखने जाना था।
यों पार्कों में जाना और
कभी-कभी उदास फिल्मी गीतों की धुनें गुनगुनाना भी
मुझे अच्छा लगता है।
मैं कोई कायर आदमी नहीं हूँ, जीने में रस लेता हूँ।
लेकिन इस जीवन से डरता हूँ
जिसको जीता हूँ।

5 अप्रैल, 1970 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित/रचनाकाल : 1970, 'जलते हुए वन का वसंत' से

वसंत आ गया

वसंत आ गया
और मुझे पता नहीं चला।
नया-नया पिता का बुढ़ापा था।
बच्चों की भूख
और
माँ की खाँसी से छत हिलती थी,

यौवन हर क्षण
सूखे पत्तों-सा झड़ता था।
हिम्मत कहाँ तक साथ देती!
रोज़ मैं सपनों के खरल में
गिलोय और त्रिफला रगड़ता था!
जाने कब!
आँगन में खड़ा हुआ एक वृक्ष
फूला और फला!
मुझे पता नहीं चला¨।
मेरी टेबल पर फाइलें बहुत थीं!
मेरे दफ्तर में
विगत और आगत के बीच
एक युद्ध चल रहा था।
शांति के प्रयत्न विफल होने के बाद—
मैं—
शब्दों की कालकोठरी में पड़ा था।
मेरी संज्ञा में सड़क रुँध गई थी
मेरी आँखों में नगर जल रहा था।
मैंने बार-बार
घड़ी को निहारा
और आँखों को मला।
मुझे पता नहीं चला¨।

मैंने बाज़ार से रसोई तक
ज़रा-सी चढ़ाई पार करने में
आयु को खपा दिया।
रोज़ बीस कदम रखे—
एक पग बढ़ा!
मेरे आसपास शाम ढल आई!
मेरी साँस फूलने लगी।
मुझे उस भविष्य तक पहुँचने से पहले ही
रुकना पड़ा।
लगा मुझे

केवल आदर्शों ने मारा
सिर्फ सत्य ने छला।
मुझे पता नहीं चला।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

देश-प्रेम

कोई नहीं देता साथ,
सभी लोग युद्ध और देश-प्रेम की बातें करते हैं।
बड़े-बड़े नारे लगाते हैं।
मुझसे बोला भी नहीं जाता।
जब लोग घंटों राष्ट्र के नाम पर आँसू बहाते हैं
मेरी आँख में एक बूँद पानी नहीं आता।

अकसर ऐसा होता कि मातृभूमि पर मरने के लिए
भाषणों से भरी सभाओं
और प्रदर्शन की भारी भीड़ों में
लगता है कि मैं ही हूँ एक मूर्ख...
कायर-गद्दार!!

मुझे ही सुनाई नहीं पड़ता है
देश-प्रेम,
जो संकट आते ही
समाचार-पत्रों में डोंडी पिटवाकर
कहलाया जाता है—
बार-बार।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

ईश्वर को सूली
(बस्तर गोलीकांड पर एक प्रतिक्रिया)

मैंने चाहा था
कि चुप रहूँ,
देखता जाऊँ
जो कुछ मेरे इर्द-गिर्द हो रहा है।
मेरी देह में कस रहा है जो साँप
उसे सहलाते हुए,
झेल लूँ थोड़ा-सा संकट
जो सिर्फ कड़ुवाहट बो रहा है।
कल तक गोलियों की आवाज़ें कानों में बस जाएँगी,
अच्छी लगने लगेंगी,
सूख जाएगा सड़कों पर जमा हुआ खून!
वर्षा के बाद कम हो जाएगा
लोगों का जुनून!
धीरे-धीरे सब ठीक हो जाएगा।

लेकिन मैंने देखा–
धीरे-धीरे सब गलत होता जाता है।
इच्छा हुई मैं न बोलूँ
मेरा उस राजा से या उसकी अंध भक्त प्रजा से
क्या नाता है?

लेकिन सहसा एक व्याख्यातीत अँधेरा
ढँक लेता है मेरा जीवित चेहरा,
और भीतर से कुछ बाहर आने के लिए छटपटाता है।
एक उपमहाद्वीपीय संवेदना
सैलाब-सी उमड़ती है–अंदर ही अंदर
कहीं से उस लाश पर
अविश्वास-सी प्रखर,
सीधी रोशनी पड़ती है–
क्षत-विक्षत लाश के पास,
बैठे हैं असंख्य मुर्दे उदास।

और गोलियों के ज़ख्म देह पर नहीं हैं।
रक्तस्राव अस्थिमज्जा से नहीं हो रहा है।
एक कागज़ का नक्शा है—
खून छोड़ता हुआ।
एक पागल निरंकुश श्वान
बौखलाया-सा फिरता है उसके पास
शव चिचोड़ता हुआ।

ईश्वर उस 'आदिवासी-ईश्वर' पर रहम करे!
सत्ता के लंबे नाखूनों ने जिसका जिस्म नोच लिया!
घुटनों पर झुका हुआ भक्त
अब क्या
इस निरंकुशता को माथा टेकेगा
जिसने—
भक्तों के साथ प्रभु को सूली पर चढ़ा दिया,
समाचार-पत्रों की भाषा बदल दी,
न्याय को राजनीति की शकल दी,
और हर विरोधी के हाथों में
एक-एक खाली बंदूक पकड़ा दी—
कि वह—
लगातार घोड़ा दबाता रहे,
जनता की नहीं, सिर्फ राजा की,
मुर्दे पैगंबर की मौत पर सभाएँ बुलाता रहे
'दिवस' मनाता हुआ,
सार्वजनिक आँसू बहाता हुआ,
नींद को जगाता हुआ,
अर्द्ध-सत्य थामे चिल्लाता रहे।

इतिहास
विद्यमान काल की परिधि में
दीवारों से टिके हुए
इन मुर्दा लोगों की पीढ़ी को माफ करे।
(सहनशील जनता न्यायसंगत नहीं होती)
इतिहास न्याय करे—
मुझ जैसे चंद बदज़बान और बेशऊर लोगों के साथ,

जो खुद आगे बढ़ आए
अपनी कमज़ोर और सीमित भुजाओं में भर लेने के लिए
कि एक बाँध अपने कगारों पर टूट रहा है;

मैंने सोचा था—जब किसी को दिखाई नहीं देता
मैं भी बंद कर लूँ अपनी आँखें
न सोचूँ
एक ज्वालामुखी फूट रहा है।
घुल जाने दूँ लावे में
तड़प-तड़पकर एक शिशु
प्रजातंत्र का भविष्य—
जो मेरे भीतर मीठी नींद सो रहा है।
मुझे क्या पड़ी है
जो मैं देखूँ, या बोलूँ या कहूँ कि मेरे आसपास
नरहत्याओं का एक महायज्ञ हो रहा है।

मैंने चाहा था और मैं अब भी चाहता हूँ
कि मैं चुप रहूँ, न बोलूँ।
एक मोटा-सा परदा पड़ा है
उसे रहने दूँ, खिड़की न खोलूँ।

'कल्पना' के जुलाई, 1966 अंक में प्रकाशित/रचनाकाल : 25 मार्च से अप्रैल, 1966 तक, 'जलते हुए वन का वसंत' से

चिंता

आजकल मैं सोचता हूँ साँपों से बचने के उपाय
रात और दिन
खाए जाती है यही हाय-हाय।
कि यह रास्ता सीधा उस गहरी सुरंग से निकलता है
जिसमें से होकर कई पीढ़ियाँ गुज़र गईं
बेबस! असहाय!!

क्या मेरे सामने विकल्प नहीं है कोई
इसके सिवाय!
आजकल मैं सोचता हूँ...!

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

देश

संस्कारों की अरगनी पर टँगा
एक फटा हुआ बुरका
कितना प्यारा नाम है उसका–देश,
जो मुझको गंध
और अर्थ
और कविता का कोई भी
शब्द नहीं देता
सिर्फ एक वहशत,
एक आशंका
और पागलपन के साथ,
पौरुष पर डाल दिया जाता है,
ढँकने को पेट, पीठ, छाती और माथा।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

जनता

जब कुछ भी
अतल अंधकार के सिवा बचता नहीं
तब लोगों को
बाँसों की तरह इस्तेमाल किया जाता है हहराते सागर में
गहराई नापने के लिए।
एक-दो-तीन
और सब–

यानी सभी बाँस
छोटे पड़ जाते हैं,
छोड़ दिए जाते हैं सागर में।
यानी
फिर और नए बाँसों की आवश्यकता होती है हहराते सागर में
गहराई नापने के लिए।
यह एक अखंड क्रम है…
और उनके अजीब विश्वास हैं
उनके हाथों में बहुत सारे बाँस हैं
बाँसों पर बाँस
हहराते सागर की गहराई नापने के लिए।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

मौसम

मौसम में कैसा बदलाव आ गया है।
शीत के छींटे फेंकता है
मेरे नाम।

हर शाम
एक स्वच्छ दर्पण-सा व्योम
टुकुर-टुकुर ताके ही जाता है।

वातावरण बड़ी निराश गति से
चारों ओर रेंगता है,
कवि कहकर मुझको चिढ़ाता है।

सच—
कैसा असहाय।
कितना बूढ़ा हो गया है तुम्हारा कवि!
बदले हुए मौसम के अनुरूप
उससे
वेश तक नहीं बदला जाता है।…

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

तुलना

गड़रिये कितने सुखी हैं।

न वे ऊँचे दावे करते हैं
न उनको लेकर
एक-दूसरे को कोसते या लड़ते-मरते हैं।
जबकि
जनता की सेवा करने के भूखे
सारे दल भेड़ियों-से टूटते हैं।
ऐसी-ऐसी बातें
और ऐसे-ऐसे शब्द सामने रखते हैं
जैसे कुछ नहीं हुआ है
और सब कुछ हो जाएगा।

जबकि
सारे दल
पानी की तरह धन बहाते हैं,
गड़रिए मेड़ों पर बैठे मुस्कराते हैं।
...भेड़ों को बाड़े में करने के लिए
न सभाएँ आयोजित करते हैं
न रैलियाँ,
न कंठ खरीदते हैं, न हथेलियाँ,
न शीत और ताप से झुलसे हुए चेहरों पर
आश्वासनों का सूर्य उगाते हैं,
स्वेच्छा से
जिधर चाहते हैं, उधर
भेड़ों को हाँके लिए जाते हैं।

गड़रिए कितने सुखी हैं!

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

युद्ध और युद्ध-विराम के बीच
(संदर्भ 1965 का युद्ध)

मामूली बात नहीं है
कि इन अगन भट्ठियों के दहानों पर बैठे हुए
हम, तुमसे फूलों और बहारों की बात कर लेते हैं,
अपनी बाँहें आकाश की ओर उठाकर
बच्चों की तरह चिल्ला उठते हैं कभी-कभी
टैंकों और विमानों के कोलाहलों को
जीवन का नारा लगाकर
एक नए स्वर से भर देते हैं।

मामूली बात नहीं है
कि जब ज़मीन और आसमान पर
मौत धड़धड़ाती हो,
एक कोमल-सा तार पकड़े हुए
आप
अपनी आस्था आबाद रक्खें,
विषाक्त विस्फोटों के धुएँ में
खुद अपने ऊपर नेपाम बम चलाते हुए
गाँधी और गौतम का नाम याद रक्खें।
शब्दों की छोटी-छोटी
तोपें लिए हुए
बम बरसाने वाले जहाज़ों को मोड़ लें,
भूखी साँसों को राष्ट्रीयता के चिथड़े पहनाएँ
अभावों का शिरस्त्राण बाँधें
चारों ओर फैली विषैली गैस ओढ़ लें,
चाहे तलुए झुलसकर काले पड़ जाएँ
आँखों में सपनों की कीलें गड़ जाएँ
पेट पीठ से सट जाए
पूरे व्यक्तित्व का सिंहासन पलट जाए।

अजीब बात है
कि नज़रों को घायल कर देते हैं दृश्य

जिधर पलकें उठाते हैं,
वातावरण घृणा मुस्कराता है
जिसमें भी जाते हैं,
आकाश की मुट्ठी से फिसलती हुई
बेबसी फैलती-फूटती है
फिर भी हम नहीं छटपटाते हैं
गाते हैं एक ऐसा गीत
जिसकी टेक अहिंसा पर टूटती है।

मामूली बात नहीं है दोस्तो!
कि आज जब दुनिया शक्ति के मसीहों को पूजती है
लोग घरों में भी तलवारों पर मचल रहे हैं,
हम
युद्धस्थल में
एक मुर्दे को शांति का पैगंबर समझकर
उठाए चल रहे हैं।

लोग कहते हैं कि अमुक बुरा है या भला है।
लोग ये भी कहते हैं कि आत्मवंचना में
जीवन जीना कला है।
हम कुछ भी नहीं कहते।
बार-बार शांति के धोखे में विवेक पी जाते हैं।
संवेदनहीन राष्ट्रों को
सदियों से
आत्मा पर बने हुए घाव दिखलाते हैं—
यानी
बहुत हुआ तो
आत्मलीन विश्व से निवेदन करते हैं—और
उसी नदी में डूब जाते हैं
जिससे उबरते हैं।

मामूली बात नहीं है दोस्तो
कि हम न चीखें
        न कराहें;
क्योंकि यही रास्ता शायद

हमारी नियति है,
जो यहाँ से शुरू हो
और यहीं लौट आए।
शायद यह तटस्थता है।
शायद यह अहिंसा या शांति या सहअस्तित्व है।
यह कुछ ज़रूर है;
इसी के लिए हमने
टैंकों और बमों को शहरों पर सहा है,
प्राण गँवाए हैं।
कच्छ में स्वाभिमान
काश्मीर में फूलों की हँसी
और छंब में मातृभूमि का अंग-भंग हो जाने दिया है
चाकू और छुरे खाए हैं।
...मामूली बात नहीं है दोस्तो!

'ज्ञानोदय', नवंबर, 1965 में प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

मंत्री की मैना

आज तू उन्मन है।
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

आज सुबह तड़के क्यों नहीं उठी
क्यों नहीं पुकारा–'मिस्टर साँगी।'
क्यों नहीं बुलाया चपरासी को
बैरे से चाय नहीं माँगी?
आज तू उन्मन है।
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

तुझसे बातें करने और सुनने को
उत्सुक हैं, घर के सब बच्चे अकुलाते हैं,
तेरी सभाओं में
अंडे, टमाटर या जूते नहीं फेंके जाते हैं।

फिर तू क्यों गुमसुम है?
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

सघन जंगलों के परकोटों में
अरक्षित अँधेरों के बीच तूने गाया,
लेकिन खामोश हो गई सहसा
जबसे
एक बेहतर भविष्य नज़र आया,
कोई आशंका है?
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

क्या हो गया है इधर
बार-बार सिर को खुजलाती है
पंखों को नोचती है,
भारत सरकार की मिनिस्टर नहीं है तू
कौन-सी समस्या पर सोचती है।
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

रस के लिए दुनिया तरसती है,
तू भी गा, राग-वंश फलने दे।
भारत यदि भूखा है, होने दे
वियतनाम जलता है, जलने दे,
व्यर्थ तू झुलसती है
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

खिड़की खुली है, पर उड़ती नहीं,
बंद पिजड़े में कसमसाती है,
उड़ने की कला तुझे भूली, या
चलने की अदा नहीं आती है?
क्यों इतनी विह्वल है?
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

मुझसे बतला, तेरी राहों में, बाधक
हर विघ्न को कुचल दूँगा,
यदि मेरे दल से उकताई हो
सत्ता के साथ दल बदल दूँगा,

थोड़ा-सा धीरज रख,
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

धुएँ की इमारत है—स्वप्न कीर्ति
टूटी हो अगर टूट जाने दे,
और मूर्ति गढ़ लेंगे, एक मूर्ति फूटी है अगर
फूट जाने दे,
मैं तो निर्माण हूँ, नियामक हूँ,
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

लोग-बाग घेरे रहें
या तुझको छोड़ दें अकेला
तुझ पर कौन फर्क पड़ता है।
जीवन राजनीति का करिश्मा नहीं है
जो कि बहुमत से बनता-बिगड़ता है।
तू मेरी आत्मा है।
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

क्या नहीं दिया तुझको लोगों ने,
आवारा जीवन को कीर्तिमय बना दिया,
तेरी विनश्वर मृत्तिका के अहम शिशु को
पाल-पोसकर सबने हिमालय बना दिया।
फिर भी तू उन्मन है।
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

टॉमी और पप्पी उदास हैं
अभागी मौन तोड़ दे,
सोने का पिंजड़ा बनवा देगी जनता
अपना पागलपन छोड़ दे,
तेरा अभिनंदन भी होगा, अब
बोल मेरी मैना, तुझे क्या दुःख है?

'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 5 अप्रैल, 1970 को प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

सवाल

मुझे पता नहीं यहाँ किस ऋतु में
कौन-सा फूल खिलता है?
वसंत कब आता है?
बारह महीने लहलहाते हुए पौधों के क्या नाम हैं?
वे फसलें जो तिगुनी उपज देने लगी हैं—
कहाँ हैं?
वे खेत जो सोना उगलते हैं—किसके हैं?
ये खेत जो सूख गए
इनमें क्या बोया गया था?
वे लोग जो फूलों को देखकर जीते हैं—कैसे हैं?
और ये लोग कौन हैं
जो पौधों को सींचते हैं
मौन हैं?

मुझे पता नहीं वर्षा की बूँदों और सूखी हुई झाड़ियों में
कैसा संबंध है?
चारों तरफ फैले और
घिरे हुए लोगों की चीखें
कहाँ से निकलती हैं?
गलियों में खड़े और पड़े हुए कुत्तों को
कौन खाना खिलाता है?
गाएँ दिन-ब-दिन क्यों दुबली
और आवारा घूमता बिजार, क्यों मोटा होता जाता है?
पिता होते तो मैं पूछता
इन खयालों से मेरा क्या नाता है?
मेरे चारों ओर
सड़कों और झोपड़ों के जाल
और तरह-तरह के सवाल क्यों हैं?
क्यों किसी भी सवाल का जवाब
मुझे नज़र नहीं आता है।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक चुनाव-परिणाम

आओ देखें—
एक छोटी-सी पगडंडी
कहाँ पहुँच सकती है!
भय की ज़मीन पर
निश्चय की ईंट
कैसे एक सृष्टि रच सकती है?

आओ सोचें—
कैसे घरों में बंद विद्रोह के तर्क
बाहर आ जाते हैं,
और लोकतंत्र के समर्थन में
सफल वातावरण बनाते हैं।

आओ, अंजलि में भर लें—
पराजित लहरों के मुँह से निकलता हुआ झाग।
देखें—
लौह-पुरुष बनकर पुजने वाला पुतला
मोम का निकला।
एक फूँक से बुझ गया
सूरज समझा जाने वाला चिराग।

रचनाकाल : 1971, 'जलते हुए वन का वसंत' से

कहाँ से शुरू करें यात्रा

चाक्षुष प्रतीतिमयी धरती
जो सामने पड़ी है,
रूपाकृति
गुण-गति के वायवी धरातल पर
कितनी बड़ी है!
दो फैले हुए पंख व्याकुल हैं

इस निर्जन विस्तार में
कहाँ से शुरू करें यात्रा?
यहाँ सब पड़ाव
वर्तमान शंकाओं
संदेहों
आग्रहों-दुराग्रहों के चश्मों में
सहज-सुलभ दृश्यों की तरह झिलमिलाते हुए
लटके हैं—;
सच है कि गति की अगम्य
किंतु भौतिक इच्छाओं ने
व्यक्ति को अतीत और आगत के बीच
कहीं सेतु
कहीं सिंधु
और कहीं शून्य की अकल्पनीय स्थितियाँ दी हैं।
और गति ही रही होगी केंद्र!
किंतु आज¨
साक्षी है युग जिसमें
सिर्फ पाँवों तले की ज़मीन ही नहीं
बल्कि जीवन के मूल्य, तत्त्व, बदल गए,
बदल गए—
महाकार पर्वत, मरुस्थलों में,
समतल मैदानों में
जल के उद्दाम वेग,
कलों-कारखानों में,
तीर्थ स्थल, मंदिर और मस्जिद, मैखानों में,
दर्द, कामनाओं में,
मूल्य, भावनाओं में,
मानवीय संस्कार, सामयिक विचारों में,
आस्था, प्रतीक्षा में अवसर की,
बदल गई सारी परिभाषाएँ ईश्वर की!

ऐसा विकल्पहीन होकर
इतना असहाय दीन होकर
बदला है मनुष्य
कि अब संज्ञाएँ

प्रज्ञाएँ
दिशाएँ
व्यक्तित्व में लय होती हुई वासनाएँ
एक-दूसरे को काटती हैं।
बच्चों को तंग हो गए हैं वे वस्त्र
जो संस्कृतियाँ बाँटती हैं।
दो फैले हुए पंख व्याकुल हैं
इस निर्जन विस्तार में...
लोगों को तंग लग रही हैं पोशाकें
जो संस्कृतियाँ बाँटती हैं।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

गाते-गाते

मैं एक भावुक-सा कवि
इस भीड़ में गाते-गाते चिल्लाने लगा हूँ।

मेरी चेतना जड़ हो गई है—
उस ज़मीन की तरह—
वर्षा में परती रह जाने के कारण—
जिसने उपज नहीं दी
जिसमें हल नहीं लगे।
यह देखते-देखते
कि कितने भयानक भ्रम में जिए हैं बीस वर्ष!
यह सोचते-सोचते
कि मेरा कसूर क्या है
और क्या किया है इन लोगों ने
जो जीवन-भर सभाओं में तालियाँ बजाते रहे,
भूख की शिकायत नहीं की,
बड़ी श्रद्धा से—
थालों में सजे हुए भाषण
और प्रेस की कतरनें खाते रहे,
मेरा दिमाग भन्ना गया है!

मैं एक मामूली-सा कवि
इस गम में गाते-गाते चिल्लाने लगा हूँ।
नेताओ!
मुझे माफ करना
ज़रूर कुछ सुनहले स्वप्न होंगे–
जिन्हें मैंने नहीं देखा।
मैंने तो देखा
जो मशालें उठाकर चले थे
वे तिमिरजयी,
अँधेरे की कहानियाँ सुनाने में खो गए।
सहारा टटोलते हुए दोनों दशक
ठोकरें खा-खाकर लँगड़े हो गए।
अपंग और अपाहिज बच्चों की तरह
नंगे बदन
ठंड में काँपता हुआ एक-एक वर्ष
ऐन मेरी पलकों के नीचे से गुज़रा है।

तुम्हारा आभारी हूँ रहनुमाओ!
तुम्हारी बदौलत मेरा देश,
यातनाओं से नहीं,
फूलमालाओं से दबकर मरा है।

मैं एक मामूली-सा कवि
इस खुशी में गाते-गाते चिल्लाने लगा हूँ।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक शाम की मनःस्थिति

उधर पश्चिम में अचानक जल उठा है
व्योम-खंड-विभोर,
शांत सोए हुए जल को
चीरकर हलचल मचाती
अभी कोई तेज़ नौका गई है उस ओर,

अभी इस सुनसान वन में
एक पंछी
झील के तट से चिहुँककर
मर्मभेदी चीख भरता हुआ भागा है,

इस निपट तम में अचानक
बिजलियों से भर गया आकाश बिलकुल अभी,
इस ज़रा-सी बात को लेकर हृदय में
एक विवश विचार जागा है।

28 नवंबर, 1962, 'जलते हुए वन का वसंत' से

वर्षों बाद

सुनो
वर्षों बाद
अनहद नाद
दिशाओं में हो रहा है
शिराओं से बज रही है
एक भूली याद!
वर्षों बाद¨।

एक पुस्तक सदृश!
भूमिका के पृष्ठ पहले
खो गए हैं,
बंध ढीले
आवरण के रंग धूमिल हो गए हैं
सिवा इसके
और कुछ भी तो नहीं बदला।
सारा कथ्य भीतर यथावत्, अक्षुण्ण।

तुम्हें अर्पित है समूचा विद्यमान-अतीत
जिसमें जी रहे हैं शब्द, चित्र,
उदास!

आओ पास
मैं भुजाएँ खोलकर थोड़ा बदल दूँ
समय का इतिहास।
कालचक्रों से रुँधा अक्षत, अजित संकल्प
माँग में भर दूँ तुम्हारी
समयजित आयोजना का एकमात्र विकल्प!

'धर्मयुग', 5 अप्रैल, 1970 में प्रकाशित/रचनाकाल : 1970, 'जलते हुए वन का वसंत' से

प्रतीति

एक भग्न प्यार के प्रदेश से गुज़रकर
मैं अपनी
यायावार स्मृति से हटा नहीं पाता हूँ—
वे उदास भुतियाले खँडहर

उनमें थोड़ा बच जाता हूँ।
बहुत प्यार करता हूँ तुम्हें
बहुत⋯।
लेकिन बार-बार
उस मुर्दा पीढ़ी के बीच से गुज़रने वाली राहों को
मैं जिनसे होकर तुम तक आता हूँ,
उन्हीं खँडहरों में,
उन्हीं सूनी भुतियाली-सी जगहों में
बल खाते पाता हूँ;

एक संक्रांति-काल होता है तुमसे मिलना
जिसमें कुछ अंतराल भरता है,
एक मृत्यु होती है तुमसे हट आना
जिसमें उस थकी-सी दशाब्दी का जहाज़
डगमगाता हुआ दृश्य में उभरता है।
लेकिन मैं तोड़ डालने वाली यात्राएँ जी कर भी

तुम तक आ जाता हूँ।
वार-बार लगता है—
मैं जैसे यात्रा से लौटा हूँ
तुम जैसे यात्रा पर निकली हो।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

भूल जाने के लिए

ओ मेरी प्रिया!
तुझे भूल जाने के लिए
मैंने क्या नहीं किया!

मुझे लगा—ये पहाड़ियाँ अकेली खड़ी हैं,
इनसे मिलूँ,
सड़कें सूनी पड़ी हैं
इन पर चलूँ,
झील, सोई हुई है बहुत देर से,
एक ढेला फेंककर जगाऊँ,

शाम, कितनी उदास है!
चलूँ—
किसी पत्थर पर बैठूँ
उससे बातें बनाऊँ;
मैंने तर्जनी हिलाकर
तेरे शून्य को भरा,
अपने शून्य को पिया!
केवल तुझे भूल पाने के लिए
मैंने क्या-क्या नहीं सोचा,
क्या नहीं किया?

मुझे लगा—शहर सूना हो गया है
कहीं चलें,
खिड़की बुरी लग रही है,

इसके परदे बदलें
फूल सूखे पड़े हैं
गमलों में पानी भरें

लेकिन चौखट पर बैठकर
मैंने ठीकरे से एक कंकड़ गढ़ा,
फिर
कमरे का भूगोल
कई बार लिखा
और कई बार पढ़ा,
मैंने अपनी अंगुलियों में
भरा हुआ रेत
निकल जाने दिया!

मुझे लगा—चाँद पहले से जड़ हो गया है
बढ़ता-घटता नहीं,
अंधकार जगह-जगह ठहरा हुआ है,
और छँटता नहीं,
पेड़-पौधे सब सहमे हुए-से हैं
सिर नहीं हिलाते
नदी और दुबली हो गई है
अब लड़कों के झुंड
शायद इधर नहीं आते;
मैंने इस उधेड़बुन में
अपना पूरा अतीत
वर्तमान में जिया
ओ! मेरी प्रिया!
तुझे भूल जाने के लिए
मैंने क्या नहीं किया।

1971-72 के आसपास

आँधी

कल कोई आँधी आई थी?
अब तक काँप रहीं दीवारें
गर्द नहीं उतरी है जमकर,
अस्त-व्यस्त परदे
दरवाज़े खुले-मुँदे-से बाहर-भीतर
और फर्श पर अंकित चरण-चिह्न-से
फटी हुई कविताओं के कुछ टुकड़े
यत्र-तत्र-सर्वत्र पड़े तड़फड़ा रहे हैं मित्र अभी तक

तुम जैसा उदास है कमरा,
मैली हैं तस्वीरें, टेबिल-क्लाथ
घड़ी का शीशा, सब कुछ।
और तुम्हारी आँखों-सी खामोशी
चारों ओर फिज़ा में।
क्या कोई आँधी आई थी?

यह गूँगा इतिहास न जाने कल क्या कह दे?
कल क्या अर्थ लगाए दुनिया
बोलो—

कोई दोष नहीं
उठ आया हल्के हो लो,
धूल भरे फर्श पर बैठकर
जी भर रो लो,
ये मौसम ही कुछ होता है
आँधी-तूफानों का मौसम।

कोई पूछे तो कह देना
कल शायद आँधी आई थी।

संभावित रचनाकाल : 1963-64

इष्ट और दाय

वाक्-शून्य! संज्ञाहत
निद्रित अचेतन के स्तर पर खड़ा होकर
अंकित करने में तुम्हारा नाम
क्या से क्या लिख जाता बार-बार
अनायास :

—जहाँ पहुँच जाता हूँ
छंद नहीं वे मेरे लक्ष्य;
इष्ट नहीं है मेरा दाय
कवि-यश! मुझे मिलता जो
इससे तो और अधिक हो जाता हूँ उदास
असंतुष्ट!
लगता है—विफल हुई साधना
संस्कारों की
मेरी अपनी, आत्मज
औ' नितांत वैयक्तिक
भाव-भावनाओं की परिणति, सामाजिक!
...कविता कहलाती है
मुझे हँसी आती है
कल जब इस हँसी को सुनेंगे वे
चौंकेंगे
कहेंगे—'व्यक्तिवादी, असामाजिक था।'
लेकिन तुम तो मुझको ग़लत नहीं समझोगी।

संभावित रचनाकाल : 1964-65

मैं ही नहीं हूँ

अहम् बोला—
एक नन्हा-सा पग मैं भी हूँ
जो बार-बार विरोधों से पराजित होकर
घायल होकर भी
तुझे यहाँ तक ले आया।

व्यथा बोली—
एक बेल मैं भी हूँ
जो चंपा-जूही की अनेक गंध लतिकाओं से अधिक
तुझ पर छाई रही
और तुझे गंध देती रही
और ये सच है
ये दोनों हैं
मैं ही नहीं हूँ

संभावित रचनाकाल : 1963-64

गीत

कौन यहाँ आया था
कौन दीया बाल गया!
सूनी घर-देहरी में
ज्योति-सी उजाल गया।

पूजा की वेदी पर
गंगाजल भरा कलश
रक्खा था, पर झुककर
कोई कौतूहलवश
बच्चों की तरह, हाथ
डालकर खँगाल गया।

आँखों में तिर आया
सारा आकाश सहज,
नए रंग रँगा, थका—
हारा आकाश सहज,
पूरा अस्तित्व एक
गेंद-सा उछाल गया।

अधरों में आग, राग
अनमनी दिशाओं में,
पार्श्व में, प्रसंगों में
व्यक्ति में, विधाओं में
साँस गें, शिराओं में
पारा-सा ढाल गया।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

वर्षा

दिन भर वर्षा हुई
कल न उजाला दिखा
अकेला रहा
तुम्हें ताकता अपलक।

आती रही याद :
इंद्रधनुषों की वे सतरंगी छवियाँ
खिंची रहीं जो
मानस-पट पर भरसक।

कलम हाथ में लेकर
बूँदों से बचने की चेष्टा की—
इधर-उधर को भागा
भीग गया पर मस्तक :

हाय! भाग्य की रेखा;
मुझ पर ही आकाश अकारण बरसा
पर तुम…
बूँदें गईं न शायद तुम तक।

रचनाकाल : 20 जुलाई, 1957, 'जलते हुए वन का वसंत' से

स्वस्तिक क्षण

नृत्य की मुद्रा में कसा हुआ
लगता जीवन!

आँगन में पड़ी हुई पायल-सी धूप!
छूम छनन छन!

घुँघरुओं की तरह बज उठता है
कभी-कभी मन!

हवा में कलाइयाँ लहरती हैं
कान में खनकते कंगन!

चंदन में बसे हुए पाए हैं
ये स्वस्तिक क्षण!

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक निमंत्रण का उत्तर

तुम्हारे
इस विपुल मंगल कामनाओं भरे उत्सव में
निमंत्रित मैं
न आऊँगा!
मैं विवश हूँ
व्यस्त हूँ!
वचन मत लो
अगर आया भी
समूचा आ न पाऊँगा
मैं कहीं पर बच रहूँगा
...छूट जाऊँगा।

...मैं बड़ी कठिनाइयों के बाद
शिष्टाचार के दो-चार अक्षर बोल पाऊँगा!

भला ऐसे क्षण¨
किसी साहित्य के इतिहास में
अभिव्यक्ति कोई सफल उतरी है!
मैं कहाँ से तर्ज़े-गालिब खोज लाऊँगा!

चुप्पियों में घिरा,
¨युवा अतीत
¨दो विबद्ध हथेलियों के बीच रह-रह कसमसाएगा,
और मंडप में खड़े सब दर्शकों के बीच
मैं
वातावरण के क्रॉस पर
चुप झूल जाऊँगा!
शपथ मत दो
मैं बहुत कमज़ोरियों का आदमी हूँ
मैं कहाँ तक विवशता को गुदगुदाऊँगा।
मैं न आऊँगा।¨बुरा मत मानना तुम

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

पहुँच

तुम्हारे साथ
देखते-देखते¨
समुद्र पर पुल बन गया है,
ऊँचे गिरि-शिखरों तक सड़क
जन-संकुल नगरों से दूर निकल आया हूँ—
हाथों में थामे तुम्हारा हाथ!

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

विदा

जैसे कोई विकल्प शेष नहीं रहता तो
टूटती परंपरा के गुण गाता हुआ, उसे
विवश विदा देता है
पराभूत देश का समाज
(अपनी पराजय के बाद भी)

जैसे जनहीन विशद मरुस्थल में
किसी काफिले से कट जाने पर
सुहृद सदृश लगता है
अपने एकांत को अव्याज
(झंझा-तूफानों का नाद भी)

वैसे ही गहरी विवशता का विष पीकर
बड़ी आत्मीयता से
तुझे विदा कर आया आज।
मैं जैसे किसी काफिले का छूटा सदस्य
जैसे किसी पिटे हुए देश का समाज।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

विदा के बाद : प्रतीक्षा

परदे हटाकर करीने से
रोशनदान खोलकर
कमरे का फर्नीचर सजाकर
और स्वागत के शब्दों को तोलकर
टकटकी बाँधकर बाहर देखता हूँ
और देखता रहता हूँ मैं!

सड़कों पर धूप चिलचिलाती है
चिड़िया तक दिखाई नहीं देती

पिघले तारकोल में
हवा तक चिपक जाती है बहती-बहती,
किंतु इस गर्मी के विषय में किसी से
एक शब्द नहीं कहता हूँ मैं।

सिर्फ कल्पनाओं से
सूखी और बंजर ज़मीन को खरोंचता हूँ
जन्म लिया करता है जो (ऐसे हालात में)
उसके बारे में सोचता हूँ
कितनी अजीब बात है कि आज भी
प्रतीक्षा सहता हूँ मैं।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक जन्मदिन पर

एक घनिष्ठ-सा दिन
आज
एक अजनबी की तरह
पास से निकल गया।

एक और सोते-सा सूख गया!
टूट गया एक और बाजू-सा!
एक घनिष्ठ-सा दिन—
जिसे मैं चुंबनों से रचकर
और कई सार्थक प्रसंगों तक ले जाकर
तुम तक आ सकता था!
मैं जिसको होंठों पर रखकर गा सकता था
स्वरों की पकड़ में नहीं आया
गर्म-गर्म बालू-सा फिसल गया!

मटमैली चादर-सी
बिछी रही सड़कें

और खाली पलंग-सा शहर!
मेरी आँखों में—देखते-देखते,
बिना किसी आहट के,
पिछली दशाब्दी का
कलेंडर बदल गया।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

यह साहस

दीवारें होती हैं
और लोग आए दिन उनसे टकराते हैं,
बुरी तरह घायल हो जाते हैं,
कई बार गति बिलमा जाती है
रस्ते खो जाते हैं
बरसों तक रक्त-रँगे माथों पर
पट्टियाँ जमाते हैं;
प्रेयसि, इस सच से इनकार कौन करता है!

लेकिन दीवारों को कौन लोग जोड़ते हैं?
कौन लोग राहों को स्वयं उधर मोड़ते हैं?
कौन लोग माथों की पीड़ा से तंग आकर,
या अपनी राहों के मोड़ों से उकताकर
जाकर दीवारों को नींव तक झिंझोड़ते हैं!
एक साथ कई-कई दीवारें तोड़ते हैं!
—पर तुम में यह साहस क्यों नहीं उभरता है?

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक साम्य

चारों ओर
काँटेदार
और
पेड़-पौधों से घिरी हुई
गोल और छोटी-सी पहाड़ी यहाँ भी है।
अकसर मैं उधर से गुज़रता हूँ।

चाँदनी रात में पहाड़ी पर,
जब सफ़ेद पत्थर चमकते हैं,
तो मुझको अनायास
तुम्हारी बड़ी-सी गोल कोठी याद आती है,
और मैं मन ही मन
उसकी बंद खिड़कियों में दिपते प्रकाश से
इनकी तुलना करता हूँ।

यों—
यह कोई साम्य नहीं है,
लेकिन फिर भी कितना साम्य है
कि इसमें भी मेरे लिए,
ऊपर पहुँचने का कोई सरल रास्ता नहीं है;
किंतु बार-बार
ऊपर चढ़ पाने के लिए मन ललचता है,

इसमें भी
एक बड़ी भीनी-सी गंध
और गहरा आकर्षण है!
लगता है
यहाँ भी है फूलों से लदी एक ऐसी लता,
जिस तक—
मेरा अभागा हाथ नहीं पहुँचता है।

'माध्यम' के अक्तूबर, 1964 अंक में प्रकाशित, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक और प्रसंग

आँखों में भरकर आकाश
और हृदय में उमंग,
काँपती उँगलियों में सहज थरथराती हुई
छोटी-सी पतंग,
मैंने—
शीश से ऊँची उठाकर
और ऊपर निहारकर,
विस्मय, आशंका और हर्ष की प्रतीति सहित
वायु की तरंगों पर छोड़ दी असंग!

कोई आवाज़ कहीं नहीं हुई।
शांत रहा संध्या का कंठ!
धुएँ-सा बदलता रहा आसमान रंग।

मेरी पतंग—
मुझे नीचे से ऊपर—
और ऊपर''को जाती हुई—
पर खोले
चील से बगुला
और बगुले से छोटी-सी चिड़िया की भाँति लगी,
मुझमें उत्सुकता के साथ सहज पीड़ा की
हल्की अनुभूति जगी—
'जाने क्या होगा'?

किंतु आह!
क्षण-भर के बाद
वह चिड़िया और उसका पूरा परिवेश
(नभ का पूर्वी प्रदेश)
साँवली लकीरों के साँपों ने घेर लिया!
कट गई पतंग।
अंधकार का अजगर लील गया
एक-एक पंख।
बाँहें फैलाकर आकाश
उसे ग्रहण नहीं कर पाया।

बिखर गया काला-सा गाढ़ा अवसाद निस्तरंग।

फटी-फटी आँखों से
कटी हुई डोरी का एक छोर पकड़े
हुआ कहीं और एक स्तर पर
एक स्वप्न-भंग!
(कितना विचित्र साम्य रखता है
जीवन
और गगन से पतंग का प्रसंग।)

रचनाकाल : 1957, 'जलते हुए वन का वसंत' से

साँझ : एक विदा-दृश्य

एक दुखी माँ की तरह—संध्या
मैला-सा आँचल पसारे
सामने खड़ी है।
सारा आकाश-ग्राम,
बाल-वृद्ध-वनिताएँ,
साँस रोक—
देख रहे विदा-दृश्य!
लिपे-पुते आँगन-सी
धरती पड़ी है।

एक शोख वय वाली लड़की-सी हवा
इधर-उधर कपड़े झटकती हुई
आँगन बुहारती है।
'थोड़े दिन और अभी रहने दो'
सलज कोयलिया बोल मारती है।

वृद्ध-वृक्ष, गर्दन हिलाते हैं।
पिता-पर्वत
काली-सी चादर में मुँह लपेट
विदा का प्रसंग टाल जाते हैं।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

सृष्टि की आयोजना

मैं—जो भी कुछ हाथ में उठाता हूँ
सपने या फूल,
मिट्टी या आग,
कर्म या विराग
मुझे कहीं नहीं ले जाता।
सिर्फ एक दिग्भ्रम की स्थिति तक,

हल्का-सा कंपन, रोमांच
एक ठंडा-सा स्पर्श
किसी भाव-विह्वल अतीत की तरह
मेरे भीतर
कँपता-अकुलाता है।
कोई आकार नहीं लेता, हर स्वप्न
मेरी उँगलियों में
सृजनशीलता की झनझनाहट जगाकर
टूट जाता है।

आज
मेरे हाथों में शून्य
और आँखों में अंधकार है,
तुम्हारी आँखों में सपने
और हाथों में सलाइयाँ हैं,
सोचता हूँ
इन इच्छाओं का
कोई आकाश अगर बुन भी गया
तो उसमें क्या होगा?
न चाँद...
न तारे...
न सूर्य का प्रकाश...
आखिर कहाँ साँस लेगा
हमारा अंश?
यह नन्हा शिशु—विश्वास।

कितने अभागे हैं हम दोनों
कि हमने
एक सृष्टि की आयोजना की।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

एक समझौता

वह...
अब मेरी प्रेमिका नहीं है।

हमें जोड़ने वाला पुल
बाहरी दबावों से टूट गया।
अब हम बिना देखे
एक-दूसरे के सामने से निकल जाते हैं।

बहुत बुरे दिन हैं...कि मैं जिनकी कल्पना किए था
वे दुर्घटनाएँ
घटकर सच हो रही हैं!
वे जो बचाव के बहाने थे,
तनाव का कारण बन गए हैं।
आज सबसे अधिक खतरा वहाँ है
जो निरापद स्थान था।

यह नहीं कि मेरे विरुद्ध हो गए हैं सब लोग!
बल्कि मेरी कलम ही
मेरे हाथों में
मेरे विरुद्ध एक शस्त्र है।
मेरा साहित्य,
एक तंग और फटे हुए कोट की तरह
अब मेरी रक्षा नहीं करता।

चारों ओर से घिरकर
मैं एक समझौते के लिए

सहमत हो गया हूँ।
वह···
अब मेरी कविता नहीं है।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

होंठों के नीचे फिर

इधर और झुक गया है आकाश
एक जले हुए वन में वसंत आ गया है!
झुरमुट में, चिड़ियों का झुंड लौट आया है
मरे हुए पत्तों पर
गति थिरक उठी है।
मेरे पाँवों में
एक पगडंडी रहने लगी है।

सहसा
गर्भवती हुई है विवक्षा,
और तस्वीरें
रिश्तों की शक्ल ले रही हैं,
मेरे उत्सुकता भरे पाँव तेज़ पड़ रहे हैं,
मेरी यात्रा के पथ पर कुछ बाँहें खड़ी हैं,
मेरे कानों में खामोशी
आत्मकथा कहने लगी है।

मेरी नियति रही होगी?
शायद भाग्य में लिखी थी एक जंगल की आग,
मेरी बाँबी से मणि खो गई थी,
मेरी प्यास कह रहे थे मेरे होंठों के झाग।
अब इन बुझी हुई आँखों में
चमक आ गई है,
मेरे होंठों के नीचे
फिर एक नदी बहने लगी है।

रचनाकाल : 1963-72, 'जलते हुए वन का वसंत' से

गीत

ज़िंदगी ने कर लिया स्वीकार
अब तो पथ यही है।
अब उफनते ज्वार का आवेग मद्धम हो चला है,
एक हल्का-सा धुँधलका था कहीं कम हो चला है,
यह शिला पिघले न पिघले रास्ता नम हो चला है,
क्यों करूँ आकाश की मनुहार,
अब तो पथ यही है।
क्या भरोसा, काँच का घट है, किसी दिन फूट जाए,
एक मामूली कहानी है, अधूरी छूट जाए,
एक समझौता हुआ था रोशनी से, टूट जाए,
आज हर नक्षत्र है अनुदार,
अब तो पथ यही है।
यह लड़ाई, जो कि अपने आपसे मैंने लड़ी है,
यह घुटन, यह यातना, केवल किताबों में पढ़ी है,
यह पहाड़ी, पाँव क्या चढ़ते, इरादों ने चढ़ी है,
कल दरीचे ही बनेंगे द्वार,
अब तो पथ यही है।

रचनाकाल : 1957, 'जलते हुए वन का वसंत' से

पाठांतर

ज़िंदगी ने कर लिया स्वीकार
अब तो पथ यही है
चाहता है कौन ज़ंजीरें
पहन लेना खुशी से
सोचता था मैं कि
इस निस्तब्धता को
तोड़ देंगी धड़कनें मेरे हृदय की
पाँव मेरे लड़खड़ाते हुए

बढ़ते ही रहेंगे
इस अँधेरे को निरंतर चीरते
क्रुद्ध मेरे नयन जलती मशालों से
रास्ता पाते रहेंगे¨
किंतु सब संकल्प बैठे हार।
ज़िंदगी ने कर लिया स्वीकार।

रचनाकाल : 1957, 'जलते हुए वन का वसंत' से

मेरे स्वप्न

मेरे स्वप्न तुम्हारे पास सहारा पाने आएँगे,
इस बूढ़े पीपल की छाया में सुस्ताने आएँगे।।

हौले-हौले पाँव हिलाओ, जल सोया है छेड़ो मत,
हम सब अपने-अपने दीपक यहीं सिराने आएँगे।।

थोड़ी आँच बची रहने दो, थोड़ा धुआँ निकलने दो,
कल देखोगी कई मुसाफिर इसी बहाने आएँगे।।

उनको क्या मालूम निरूपित इस सिकता पर क्या बीती,
वे आए तो यहाँ शंख-सीपियाँ उठाने आएँगे।।

फिर अतीत के चक्रवात में दृष्टि न उलझा लेना तुम,
अनगिन झोंके उन घटनाओं को दोहराने आएँगे।।

रह-रह आँखों में चुभती है पथ की निर्जन दोपहरी,
आगे और बढ़े तो शायद दृश्य सुहाने आएँगे।।

मेले में भटके होते तो कोई घर पहुँचा जाता,
हम घर में भटके हैं कैसे ठौर-ठिकाने आएँगे।।

हम क्यों बोलें—इस आँधी में कई घरौंदे टूट गए,
इन असफल निर्मितियों के शव कल पहचाने जाएँगे।।

हम इतिहास नहीं रच पाए इस पीड़ा में दहते हैं,
अब जो धाराएँ पकड़ेंगे, इसी मुहाने आएँगे।।

रचनाकाल : 1972, 'जलते हुए वन का वसंत' से/2 जुलाई, 1972 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित

तुझे कैसे भूल जाऊँ

अब उम्र का ढलान उतरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ!

गहरा गए हैं खूब धुँधलके निगाह में
गो राहरो नहीं है कहीं, फिर भी राह में—
लगते हैं चंद साए उभरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ!

फैले हुए सवाल-सा, सड़कों का जाल है,
ये शहर हैं उजाड़, या मेरा खयाल है,
सामाने-सफ़र बाँधते-धरते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ!

फिर पर्वतों के पास बिछा झील का पलंग
होकर निढाल, शाम बजाती है जलतरंग,
इन रास्तों से तन्हा गुज़रते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ!

उन सिलसिलों की टीस अभी तक है घाव में,
थोड़ी-सी आँच और बची है अलाव में,
सजदा किसी पड़ाव में करते हुए मुझे
आती है तेरी याद, तुझे कैसे भूल जाऊँ!

23 अप्रैल, 1972 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', नई दिल्ली से प्रकाशित/रचनाकाल : 1972, 'जलते हुए वन का वसंत' से

मृत संभावनाएँ

(1)

दीप यह, पथ को प्रकाशित दूर तक करता,
तिमिर की स्याह आँखों में,
किरन आलोक की भरता
अगर ये चारदीवारी न होती
अगर ये बंद कमरे में न होता
अगर चौरास्तों पर
जल रहा होता कहीं यह दीप!

(2)

और ये पाकड़
नीरस ठूँठ जैसा, बेपढ़े इंसान की मानिंद
जिसके पात छायाहीन
कांति-मलीन
होता पंथ का पाथेय
सुख श्रेय पाता राहियों से
यदि इसे तत्काल (जब इसका समय था)
सींचा और गोड़ा गया होता।

दीप

जो दीप बुझ गए हैं
उनका दुःख सहना क्या!
जो दीप जलाओगे
अब उनका कहना क्या!
सुधि की हथेलियों पर
चिंतित माथा न धरो,
जो दीप जल रहे हैं
अब उनकी बात करो।

कब तक

पंथ का
बरुनियों पर
भार सहूँ—कब तक?
तन-मन के
बीच की
दरार सहूँ—कब तक?
मिथ्या है जो
वो इंतज़ार सहूँ
कब तक?
मौन रहूँ
मौन
बार-बार सहूँ—कब तक?

तीन ज़ख्म : तीन दर्द

इन तीनों ज़ख्मों की
अपनी कहानी है
सुनो! मैं सुनाता हूँ :

एक ज़ख्म मुझको
मिला था लड़ाई में
बुलेट से
जो मेरी जंघा के ऊपर है;

ज़ख्म दूसरा मुझको
मिला था मुहल्ले में
नज़रों से
जो मेरे दिल में है;

ज़ख्म तीसरा मुझको
मिला है ज़माने में
अनुभव से
जो मेरे स्वर में है;

जब पहला ज़ख्म लगा
तड़प उठा
जलहीन मछली की तरह
औ' फिर सात रोज़ अस्पताल
डॉक्टर और नर्स···बैन्डेज़
तीखी कड़वी दवाएँ
दर्द रहा ऐसा कुछ कहा नहीं जाता है!

ज़ख्म दूसरा ऐसा था जिसने बरसों तक
खाना-पीना-सोना सब कुछ भुला दिया
मैं जैसे मैं न था
ज़ख्म, दर्द, ही था बस
मेरा अस्तित्व अनुपयोगी!

ज़ख्म तीसरा जैसा था वैसा अब भी है।
जहाँ कोई फसल बिकी
हाथ उठा,
शीश झुका—
फौरन बढ़ जाता है।
औ' इसका दर्द
पहले ज़ख्मों के दर्द की तरह
मेरा साथ छोड़ नहीं सका
गलत मोड़ नहीं सका।
यही ज़ख्म मेरा है
यही दर्द सबका है।

‘धर्मयुग’ संपादक धर्मवीर भारती के नाम एक व्यक्तिगत ग़ज़ल

पत्थर नहीं हैं आप तो पसीजिए हुज़ूर,
संपादकी का हक तो अदा कीजिए हुज़ूर।

अब ज़िंदगी के साथ ज़माना बदल गया,
पारिश्रमिक भी थोड़ा बदल दीजिए हुज़ूर।

कल मैकदे में चैक दिखाया था आपका,
वे हँस के बोले—इससे ज़हर पीजिए हुज़ूर।

शायर को सौ रुपए तो मिलें, जब ग़ज़ल छपे,
हम ज़िंदा रहें ऐसी जुगत कीजिए हुज़ूर।

लो, हक की बात की तो उखड़ने लगे हैं आप,
शी! होंठ सिलके बैठ गए, लीजिए हुज़ूर।

संपादक की ओर से दुष्यन्त कुमार को उत्तर (का प्रारूप) दुष्यन्त की कलम से

जब आपका ग़ज़ल में हमें खत मिला हुज़ूर,
पढ़ते ही यक-ब-यक ये कलेजा हिला हुज़ूर।

ये ‘धर्मयुग’ हमारा नहीं सबका पत्र है,
हम घर के आदमी हैं, हमीं से गिला हुज़ूर।

भोपाल इतना महँगा शहर तो नहीं कोई,
महँगी का बाँधते हैं हवा में किला हुज़ूर।

पारिश्रमिक का क्या है बढ़ा देंगे एक दिन,
पर तर्क आपका है बहुत पिलपिला हुज़ूर।

शायर को भूख ने ही किया है यहाँ अज़ीम,
हम तो जमा रहे थे वही सिलसिला हुज़ूर।

संभावित रचनाकाल : 1974-75

सवाल ये है

सवाल ये नहीं कि आप कुछ बोलें
आप चाहें तो मुँह तक न खोलें
सवाल ये है कि
आप खुद को टटोलें
और तैयार रहें
अकसर हुआ है कि
जब कोई सवाल आया है
आदमी जो तैयार नहीं था
यक-ब-यक कुछ कह नहीं पाया है
और जब वह चारों तरफ
सवालों से घिर गया
तो बहुधा सवालों से टकराकर गिर गया

यह मैं इसलिए कहता हूँ
कि एक सवाल आने वाला है
आँधी की तरह नहीं
चुने हुए प्रतिनिधियों की तरह
वह अगले वर्ष संसद भवन में घुसेगा
और गूँज उठेगा
तुम तैयार रहो
कुछ न हो तो हाथों में
ढेले ही उठा लो।

जवाब किसी ठोस वस्तु का नाम नहीं
वह एक तैयारी है
एक हौसला
एक अंदाज़
जिसमें आप उलझ सकते हैं
    कूद सकते हैं
    भिड़ सकते हैं
क्या तुमने देखा
    अगली पंक्ति में खड़े लोग
    गो कि खड़े हैं

उनके सर उनके कंधों पर नहीं हैं
अगर हैं तो अंगारों से भरे हुए पड़े हैं
उनके दबे-भिंचे कंधों से
टँगी हुई उनकी बाँहें
हवा में झूलती हुई ऐसी लगती हैं
जैसे चूल्हे में पड़ी हुई लकड़ियाँ सुलगती हैं

तुम्हें पता है ये लोग तैयार नहीं थे
और किसी सवाल की मार से मारे गए
तुमने सुना तो होगा कि
संस्कृति और साहित्य में
सवालों का जवाब होता है
और इतिहास इन जवाबों का संकलन
और दर्शन : पृष्ठभूमि
जीवन की सारी विधाएँ
जवाबों से उपजतीं
और सवालों से जूझती हैं
आश्चर्य है कि तुम लोग
इस मोटे से तथ्य को नहीं समझते

तुम्हें पता नहीं
अकसर सवाल हरियलों के झुंड की तरह आते हैं
और पेड़ों में विला जाते हैं
वे नज़र तक नहीं आते
जब तक कि आप बहुत ध्यान से न देखें
या शाखों के बीच कोई ढेला न फेंकें
इसलिए तुम अभी से पेड़ को इस तरह देखो
कि एक-एक पत्ता एक हरियल हो जाए

कोई मुश्किल काम नहीं है
सिर्फ अगर डूबकर देखना शुरू करो
तो एक-एक पत्ता हरियल बन सकता है
यह एक दृष्टि है
दृष्टिकोण
जिसकी आवश्यकता है...

इसके बाद ज़रूरी नहीं कि तुम समझदार कहलाओ
संभव ये है कि तुम ज़्यादा सवालों की मार खाओ
समझदार लोग वे होते हैं
जो सवाल पैदा करते हैं
और उन्हें समाज में बिखरा देते हैं
ताकि लोग सवालों को सेते रहें
लफ़्ज़ों पर गर्दन हिलाते रहें
या पुरस्कार देते रहें
यानी इस बहाने लोगों में ज़रा सनसनी रहे
और किसी तरह यथास्थिति बनी रहे

वे जो चाहते हैं कि उनकी बात मान ली जाए
मुँह में भोंपू लगाकर चिल्लाते हैं
वे जानते हैं जवाब से ज़्यादा ज़रूरी है
    प्रचार
सत्य से ज़्यादा गहरी है
    असत्य की मार
बार-बार वे कहते हैं हम आगे बढ़ रहे हैं
    हमारे पास सवालों के जवाब हैं
    हम उत्तर देंगे।
उनका अंदाज़ कुछ-कुछ सरकारी होता है
वैसे सरकार कहती है—
    विदेशों में हमारी कीर्ति फैली है
    देश प्रगति कर रहा है
    आदमी अब भूखा नहीं है
    कीमतें गिर गई हैं
    ये जो सूखा पड़ा है
    ये जो कुछ मौतें हुईं
इनके पीछे देश के दुश्मनों का
    हाथ था
लोग उनसे सावधान रहें
    हम चाहते हैं
दुश्मन की साज़िश अब कामयाब न हो

तुम भी शोर मचा सकते हो
तुम भी सत्य छुपा सकते हो

लेकिन एक बात है कि
शोर जब ज़्यादा होता है
तो उसके पीछे एक खामोशी बोलती है
और जब वह अपनी ज़बान खोलती है
तो शोर चाहे कितना ही तेज़ हो
सकते में पड़ जाता है
तब लाउडस्पीकर चिल्लाते रहते हैं
लेकिन सन्नाटा बढ़ जाता है

एक ताज़ा मिसाल है कि नहीं
जब वहाँ ज़्यादा शोर मचाया गया
तो लोग
दिलों की सतह को छूता हुआ
सन्नाटा चाहने लगे।

जब वहाँ ज़्यादा ताकत का प्रदर्शन किया गया
तो लोग एक कमज़ोर
और निहत्थे बूढ़े को सराहने लगे

जब वहाँ चारों तरफ बाड़ लगा दी गई
तो लोग चलने के लिए मचलने लगे

जब वहाँ आग और आँच पर
पाबंदी लगा दी गई
तो लोगों के जिस्म सुलगने लगे
और दिल जलने लगे

इसलिए मैं कहता हूँ
आप सब लोग तैयार रहें
एक सवाल आने वाला है
उसके उत्तर में एक साथ बोलें
और जिन लोगों के मुँह पर ताला लगा है
वे अपने पाँवों को काम में लाएँ
बोल नहीं सकते तो
चुपचाप उस बूढ़े व्यक्ति के पीछे हो लें
वह बूढ़ा आदमी

जो कब्र में पाँव लटकाए
हमारे लिए ज़िंदगी खोज रहा है

दिल्ली जाना चाहता तो जा सकता था
सत्ता चाहता तो पा सकता था
वह जो आज पत्तों को छू-छूकर देख रहा है
चाहता तो इच्छा मात्र से
इस पूरे दरख्त को हिला सकता था

पर मुझे लगा
एक अनुशासन में
यानी एक क्रम में विश्वास करता है
वैचारिक हिंसा को मानता है
आज के आदमी की नब्ज़ को
ठीक पहचानता है
जभी तो एक-एक आदमी को
जगाने के लिए
एक-एक हरियल को उड़ाने के लिए
नाम ले-लेकर ढेले फेंक रहा है
कब्र में पाँव लटकाए वह बूढ़ा
ज़िंदगी के ख्वाब देख रहा है

सवाल ये नहीं कि
आप उसकी जय बोलें
सवाल ये है कि
आप खुद को टटोलें
और तैयार रहें
अगले वर्ष एक सवाल आने वाला है
और अकसर देखा गया है कि
जब आदमी तैयार नहीं होता
और किन्हीं सवालों में घिर जाता है
तो उनसे टकराकर गिर जाता है।

रचनाकाल 1 मार्च, 1975 से 30 मार्च, 1975 तक

तुमने देखा

तुमने देखा–
दिशाओं ने डुगडुगी बजाई
आकाश ने पोस्टर चिपकाए,
सड़कों ने जुलूस निकाले
नगरों ने नारे लगाए
और हवाएँ
संवाददाता की तरह
उस खबर को ले उड़ीं–
आज सारी दुनिया को पता चल रहा है
कि एक मुल्क धू-धू करके जल रहा है

तुमने देखा–
कोई बात बननी होती है तो कैसे बन जाती है
ज़मीन एक कमान-सी तन जाती है
और आदमी तीर की तरह छूटता है;
इतिहास जागकर अँगड़ाई लेता है
नसों में सदियों का जमा हुआ रक्त फूटता है
धीरे-धीरे एक बर्फ़-सी पिघलती है
और नीचे से एक सड़क निकलती है।
वो सड़क–
जो पाँवों को मंज़िल तक ले जाती है
राजनीति की भाषा में
'क्रांति' कहलाती है।

तुमने देखा–
लोग अब आहिस्ता-आहिस्ता इस सड़क पर इकट्ठा होने
लगे हैं
देखो, उनके खाली हाथों की मुट्ठियाँ
किस तरह कसी हुई हैं!
उनके लहूलुहान पाँवों को मत देखो,
उनकी चाल को देखो।
जिसमें आक्रामक व्याघ्र की चुस्ती बसी हुई है,

उनके शरीर पर मत जाओ—
कि ये अस्थिपंजर कागज़ के पुलों की तरह
खड़क रहे हैं;
उनके सीनों को देखो
जिनमें लहू के फव्वारे
जवान चिनगारियों की तरह फड़क रहे हैं।

तुमने देखा—
ये उत्साह
रावण जलाने के शिशुवत् उत्साह से कितना अलग है!
ये इरादा!
तमाशबीनों की उचटती निगाह से कितना अलग है!

तुमने देखा—
ये लोग
इस टूटी हुई नाव में बैठकर
इस किनारे तक खेने आए हैं
और उधर कतारों में खड़े हुए लोग
राशन नहीं, रोशनी लेने आए हैं!

तुमने देखा—
कि रोशनी तो क्या
घास भी महँगी है
और पेट को
अन्न का दाना नहीं मिलता,
कि जिस्म में हया है
और एक लँगोटी के बिना शरीर का काम नहीं चलता,
कि इंद्रियाँ भूख से जड़ हो गई हैं
या मर गई हैं।
फूल उत्तेजित नहीं करते!
हाथ डरते-डरते फूलों को छूता है।
उनसे भी अब रस नहीं
मवाद अधिक चूता है।

तुमने देखा—
पाँव छिले हुए हैं,

मुँह सिले हुए हैं,
कंधे शाखों की तरह झुके हैं,
स्वर स्वेच्छा से या डरकर
अधरों में रुके हैं।

तुमने देखा—
झुग्गियों और मकानों में
चीखें और कराहें बढ़ रही हैं,
औरतें घरों में
ज़रूरतों के साथ झगड़ रही हैं,
बदबूदार साँस, धुएँ-सा,
थम-थमकर निकल रहा है,
ऐसा लगता है
जैसे शरीर के भीतर
कोई मुरदा जल रहा है।

तुमने देखा—
कितना नाजुक क्षण है।
अभी ये चीखें और कराहें
और तेज़ होंगी,
ये खबरें, जिनको सुन-सुनकर लोग आए हैं
और सनसनीखेज़ होंगी,
शायद यह अँधेरा दूर होगा,
कुछ न कुछ ज़रूर होगा,
यह एक शुभ लक्षण है
कि आदमी ने
काल की परछाईं को कितने करीब पे छुआ है;
इतिहास साक्षी है—
कि इतिहास बदलने से पहले
हमेशा ऐसा ही हुआ है।

रचनाकाल : 5 अप्रैल, 1975। प्रकाशन 26 जून, 1977 'धर्मयुग' में। यह कविता आपातकाल आरंभ होने के कई सप्ताह पहले लिखी गई थी, जब सारे भारत में आसन्न तानाशाही के विरुद्ध देश के युवा जे. पी. के नेतृत्व में अपनी आवाज़ बुलंद कर रहे थे। कविता हिंदी कवि सर्वेश्वर दयाल सक्सेना को संबोधित है।

काव्य-कथा : चार पत्र : एक प्रसंग

प्यारे दोस्त!
इन दिनों एक नई बात हुई है,
यानी फिर एक लड़की से मुलाकात हुई है।
...एक दिन मैंने देखा—
वह लड़की ठेठ गँवारू लिबास में
गाँव की तरफ आ रही है,
वैसे तो चुप थी
लेकिन पास से देखा तो लगा
शरीर से गुनगुना रही है।
...वह जिस्म
एक ऐसा तिलिस्म था
जिसमें विवेक खो गया,
इधर कुछ दिनों से
मेरा वही रास्ता हो गया।

एक दिन मैंने उससे कहा—
"तुम्हारी आँखों में समुद्र है,
मैं वहाँ उठती-गिरती लहरों पर
अपना अस्तित्व
एक टूटी हुई कश्ती के तख़्ते-सा
तैरता हुआ पाता हूँ
मेरा धर्म,
अथवा कश्ती का अंग होने का मेरा बोध,
अथवा मेरी अस्मिता
तेरे कारण बची है।"

एक दिन मैंने उससे कहा—
"तेरा व्यक्तित्व एक दहकता हुआ
हिमानी पठार है।
जहाँ सृष्टि का सारा सौंदर्य
और संगीत जम-जमकर पिघलता है।
तुझे देखकर मन में,

भीतर लावा-सा उबलता है।
बार-बार ऐसा लगता है
कि यह गतिमय सृष्टि, विधाता ने नहीं,
तूने रची है।"

एक बार फिर
मैंने जब यही बात दूसरीं तरह से दुहराई
तो वह पहली बार मेरे ज़रा करीब आई

और अपनी बड़ी आँखें फैलाकर बोली–
"तुम्हारी बात मुझे अच्छी तो लगी
पर समझ में नहीं आई।"

मैंने अभिव्यक्ति को साहित्यिक संदर्भ देते हुए कहा–
"तू एक भोली बाला है!
तू नहीं समझेगी
पौराणिक आख्यानों का मर्म
पुनर्जन्म का चक्र!
तुझे कैसे समझाऊँ
कि तू एक अभिशप्त अप्सरा है
और मैं वह शापग्रस्त यक्ष–
जो अपनी मुक्ति के लिए
तेरी ओर देखता है।"
"जाने तुम क्या कहते हो।" उसने कहा–
"मेरी कुछ समझ में नहीं आता।"
मैंने उत्तर दिया
"तुमने अशोक का वृक्ष देखा है?"
जानती हो
वह जो सुंदरियों के पाद-प्रहारों से फूलता था,
उस जड़ वृक्ष और चेतन पाँवों का संबंध
मैं तुम्हें नहीं बता सकता।
मैं ये भी नहीं बता सकता
कि यज्ञ की समिधा में
आम्र की कोमल शुष्क डंठलों का
स्थान क्यों होता है?

लेकिन ऐसा लगता है
जैसे कभी-कभी पाँव अनायास
अनजान दिशाओं की ओर मुड़ जाते हैं;
ऐसे ही कुछ संज्ञाओं के साथ
कुछ पवित्र भाव जुड़ जाते हैं।''
''...तो'' उसने प्रश्नवाचक दृष्टि से देखा।
...''तो क्या,'' मैंने कहा,
''हर बात का कोई युक्तिसंगत कारण हो,
हर बात महत्त्वपूर्ण और असाधारण हो,
ऐसा नहीं होता।
देखो—ये कैसी विवशता है
कि मैं तुमसे जुड़ा हूँ
किंतु तुम मेरी कुछ भी नहीं हो।
लोग पूछ सकते हैं—तुम दोनों में क्या रिश्ता है,
लेकिन चाहे तुम मानो न मानो
वो बात जो मैंने तुम से कभी नहीं कही है,
सौ फीसदी सही है—
कि हम पिछले जन्म में कुछ थे।
इसलिए अब
हमारी भटकती हुई आत्माएँ
एक-दूसरे को खोजती हुई आ मिली हैं।''

वह चौंके, इससे पूर्व मैंने कहा—
''पूर्वजन्म का अतीत—
मुझे बहुत धुँधला-धुँधला-सा याद आता है,
ऐसा ही वर्णन से परे रूप,
आरक्त कपोलों पर ऐसी ही लज्जा,
प्यार की बातों पर इसी तरह
काँपना-सिहरना,
...वो लड़की...ज़रूर...तुम हो...
पर खैर छोड़ो...मैं तो सिर्फ ये कहता हूँ
कि मेरी बातों पर रात में विचार करना,
शायद तुम बैठकर सोचो
तो सुदूर अतीत की—

उन धुँधली आकृतियों को पकड़ लो,
या उस भाषा को पढ़ लो
जो जाने क्या कहती है
अस्फुट शब्दों में
हर वक्त
कानों में गूँजती रहती है।''
...''हाँ, अब मैं चलूँगा,
रात को सोचना ज़रूर,
यहीं कल फिर मिलूँगा।''

तुम यकीन नहीं करोगे दोस्त,
यह एक अजीब अनुभव था,
जैसे पाँवों के नीचे एक
नागिन का फन आ जाए
और वह उलटकर पाँव की पिंडली जकड़ ले,
ठीक इसी तरह वह मुझे कसकर जकड़ती गई,
या यों समझो कि एक बेल
वृक्ष के सहारे फैलती हुई
धीरे-धीरे ऊपर चढ़ती गई।
मैं सोच भी नहीं सकता था
कि एक दिन ऐसा हो जाएगा
कि बेल को सहारा देने वाला वृक्ष
अपनी मोटी-मोटी शाखों के बावजूद
बेल कहलाएगा
अपनी अस्तित्वगत स्वतंत्रता के साथ
परतंत्रता का बोध!
लोग कहते हैं—
ऐसा ही होता है—
अमर बेल जिस पेड़ पर फैलती है
वह एक दिन
अपनी संज्ञा...गुण और धर्म
ज़रूर खोता है।

तुम सोचोगे कि दो दर्जन पाप करके
आज मैं रामायणी बन रहा हूँ—

या किसी भावुकता में उफन रहा हूँ।
लेकिन दोस्त!
इस बाबत भी
मैं कोई कैफियत नहीं दूँगा।
ऐसा लगता है अब
मैं शायद वह व्यक्ति नहीं हूँ
जिसे तुम जानते थे,
मैं एक दूसरा आदमी हूँ।
इसलिए…
खत को यहीं खत्म करूँगा।

तुमने लिखा है कि मेरा खत
तुम्हारे पत्थर पर एक लकीर खींच गया है
और तुम कहीं ज़ोर से हिल गए हो!
तुमने लिखा है—'सच मानना यार!
तुम मुझे अपने खत की
अंतिम पंक्ति में मिल गए हो।'
मुझे बहुत खुशी हुई
इससे भी ज़्यादा खुशी मुझे ये पढ़कर हुई
कि जिस चिड़िया से मैं डरता हूँ
उस भावुकता के पर
तुमने नोचकर फेंक दिए हैं।

लेकिन दोस्त!
पहले तुम अपने आपको दुरुस्त कर लो।
मैं अब किसी से डरता नहीं हूँ—
चाहे वह चिड़िया हो या शेर
धर्म हो या नैतिकता
आदमी हो या राजनीति!
दरअसल
मैं इन चीज़ों की ओर देखता भी नहीं।
मैं कहीं और खोया हुआ हूँ
बिलकुल एक पानी की तरह सोया हुआ हूँ—
सैकड़ों रत्न और मोती छिपाए हुए

मैं ठहरा हूँ,
पहले एक उथले और गँदले-से
पानी का गड्ढा था
आज ऐसा लगता है
किसी समुद्र की तरह गहरा हूँ।

वैसे...
मैंने समुद्र होना नहीं चाहा था।
एक गड्ढे की तरह मैं खुश था।
यद्यपि
कभी-कभी ऐसा ज़रूर लगता था
कि कुछ पाँव
कुछ नर्म रुई-से सफेद तलुवे
मेरे पास से गुज़र जाते हैं,
जिन पर मेरे अक्स नहीं आते हैं।

पिछले पत्र में—तुम्हें याद होगा—
मैंने अपने व्यक्ति की तुलना
एक पेड़ से की थी
जिस पर अनेक बेलें चढ़ीं,
फैलीं और सूख गईं!
लताओं को लेकर
वृक्षों को सदैव बुलंदी का वहम होता है
क्योंकि जैसा मेरे साथ हुआ
ऐसा आम तौर पर बहुत कम होता है
कि एक बेल फैले
और पूरे पेड़ पर छा जाए
उसको एक नई छवि दे
उसकी पुरानी आकृति को खा जाए।

मेरे साथ इस बार अनहोनी हुई है
मैं कह नहीं सकता
बात इतनी ताज़ा है
और एकदम नई...!

यानी मैंने उससे जो-जो कहा
वह मानती गई!
मैंने चीज़ों को जो नाम दिए
वह उन्हें उसी नाम से पहचानने लगी,
मैंने दुनिया को जिस रूप में
उसके सामने रखा,
वह उसे उसी रूप में जानने लगी।
जैसे मैंने कहा
तो वह शरीर में प्रेम पढ़ने लगी।
मैंने चाहा,
तो वासना को भावनाओं में मढ़ने लगी,
मैंने संकेत किया
तो समस्त वर्जनाओं और निषेधों के बावजूद
वह रात-रात भर मेरे कमरे पर रुक गई,
मैंने तोड़ना चाहा तो टूटी नहीं
लेकिन मैंने झुकाया तो भूमि तक झुक गई!
...और एक दिन मैंने पाया
वह चुपचाप अपनी समूची ज़िंदगी
एक संदूकची की तरह हाथों में उठाए हुए
मेरे द्वार पर खड़ी है—
मानो पूछ रही हो—इसे कहाँ रख दूँ?
किसे दे दूँ?
उस दिन मुझे लगा कि यह बेल
इस वृक्ष से कहीं बड़ी है।

उस दिन पहली बार
एक धक्का-सा लगा
और मैं डर गया...
उस दिन पहली बार मैं...
यानी एक छोटा-सा गड्ढा
समुद्र की तरह अथाह पानी से भर गया।
मैं बड़े-बड़े हादसों से गुज़रा हूँ
लेकिन यह सबसे बड़ा हादसा था

जब बिना किसी प्रतिरोध के
मैंने आदर से सिर झुका लिया
और चुपचाप
संदूकची के साथ
उसे भीतर बुला लिया।

मैं नहीं जानता कि मैंने क्या कर दिया है,
क्योंकर एक गड्ढे को
समुद्र की तरह भर दिया है?
दोस्त!
तुम मुझे लिखना ज़रूर···
क्या मुझे ऐसा नहीं करना चाहिए था?

दोस्त!
नेक सलाह के लिए धन्यवाद।
अब हर बात को बहुत देर हो चुकी है।
···मैं एक ठंडी चट्टान की तरह
इस पेड़ के नीचे पड़ा हूँ
लेकिन महसूस यों होता है
गोया किसी आसमान पर खड़ा हूँ।
सब कुछ दे देने के बाद भी
सब कुछ मेरे पास है।
एक मुट्ठी में सारी धरती और
एक में आकाश है।
लगता है
मैं पहले से ज़्यादा संपन्न हो गया हूँ।
वैसे ही जैसे कभी-कभी लौकिक विवेक खो जाता है–
तो आदमी ज़्यादा समझदार हो जाता है।

लेकिन···तुम्हारी यह बात मान भी लूँ
कि संदूक में रक्खे हुए प्रेम-पत्रों की तरह
मेरे विचार पिछड़ गए हैं,
कुछ अक्षर दीमक ने खा लिए हैं
और कुछ सड़ गए हैं

और मेरे साथ के लोग
आगे बढ़कर पहाड़ों पर चढ़ गए हैं,
तो भी मुझ पर कोई फर्क नहीं पड़ता।
…कोई फर्क नहीं पड़ता मेरे भाई
क्योंकि जिस जगह मैं खड़ा हूँ
वहाँ से हर ऊँचाई साफ नज़र आती है।

वह एक रेल की तरह गुज़रती है
मैं एक पुल की तरह थरथराता हूँ
वह एक पत्ते को छूती है
मैं जड़ों तक काँप जाता हूँ
सैकड़ों लतरों-लताओं का खून पीने के बाद
बहुत भला लगता है कि वह मुझसे
रस ग्रहण करे,
उसका कोमल व्यक्तित्व मुझे रौंदता हुआ
मेरे ऊपर से गुज़रे,
वह, मेरे समुद्र को अंजुलि में भरकर पी ले,
वह, मेरी वासना के नाग को इस तरह कीले
कि वह विषहीन हो जाए!
और मेरे व्यक्तित्व का वृक्ष अपनी विराटता के साथ
एक बेल की लघुता में लीन हो जाए!

मैं नहीं जानता
मेरा दृष्टिकोण गलत है या सही
क्योंकि ये दुनिया
एक मोटी-सी किताब है,
और मैंने इसे पूरा नहीं पढ़ा,
लेकिन एक बात है
कि मैंने इसका जो भी अध्याय खोला है
वह मेरे समर्थन में बोला है।

रचनाकाल : अप्रैल, 1975, 'धर्मयुग' : 2 नवंबर, 1975 में प्रकाशित

अजायबघर में

अब मैं
अजायबघर में घुसते हुए आँखें बंद रखता हूँ।
उस दिन एक धड़हीन मूर्ति ज़ोर से चीख उठी थी।

यहाँ बहुत एहतियात बरतनी पड़ती है
चलने के लिए।
कदम आगे बढ़ाने से पहले
ज़मीन को ठोक-ठोककर देखता हूँ।
उस दिन मैं जिस जगह खड़ा था,
वह ज़मीन किसी अजगर की पीठ थी।

जाने क्यों
ये लोग काँच की खिड़कियों को बंद नहीं रखते।
हर हवा का झोंका
एक बहुत बड़े और बदरंग चमगादड़ की तरह
शीशों से टकराता है
और हॉल में लटक जाता है।

मैं बार-बार इन बच्चों से पूछता हूँ।
मेरे बच्चो!

तुम यहाँ क्या देखने आए हो?
कटे हुए सिर
धड़हीन चेहरे
विकृत आँखें
और मरी हुई संस्कृति।
इतनी अधिक कीमत देकर देखने लायक
यहाँ कुछ तो नहीं है।
लेकिन मेरी कोई सुनता नहीं

यह अजायबघर
और इसकी मुर्दा तहज़ीब में सफर
जाने कब खत्म होगा।

मैं अपनी आँखें बंद किए हूँ
कदम
बहुत एहतियात से सँभाल-सँभालकर रख रहा हूँ।
काश!
कोई बच्चा आकर मेरी उँगली पकड़ ले।

1975 के आसपास की रचना

कुछ

कुछ लोग इस ज़मीन में
जहाँ खोदते हैं
चार हाथ पर पानी निकल आता है
अँगूठे से कुरेदते हैं रेत
तो रेत पानी से भीग जाता है

लेकिन कुछ हाथ इसी ज़मीन में
ज़िंदगी भर खुदाई करते रहे
और कुछ सूखी पपड़ियों वाले होंठ
पानी-पानी चिल्लाते हुए
खामोश हो गए?

कुछ लोग जानते हैं
कि उनके पाँवों के नीचे ठोस ज़मीन है
और उनके पाँव बेधड़क बढ़ते चले जाते हैं
कुछ पाँवों को लगता है
कि वे हवा में चल रहे हैं

और वे कदम-कदम पर ठोकर खाते हैं।

1975 की डायरी से

अब एक आवाज़

वे लोग डोंगी की प्रतीक्षा में
तट पर खड़े रहे
उनके जिस्म की परछाइयाँ
पानी की सतह पर काँपती रहीं
किंतु जल की जड़ता नहीं टूटी।

अब एक छपाक् की आवाज़ हुई है
पार जाने की उतावली में
कुछ नौजवान लड़कों के साथ
एक आदमी भँवर में कूदा है
लहरें गोलाइयों में उभर रही हैं
शायद थोड़ी देर में
किसी डोंगी की शक्ल अख़्तियार कर लें
देखिए क्या होता है

बहुत सारे लोग

इस अँधेरे में मुझे कुछ दिखाई नहीं देता
लेकिन महसूस होता है
कुछ साये मेरे आसपास काँप रहे हैं
कुछ साँसें धौंकनी की तरह चल रही हैं
कुछ लोग चलते हुए हाँफ रहे हैं
जैसे भारी शहतीर उठाए हुए
किसी दुर्ग पर चढ़ रहे हैं
या कोई भारी वज़न उठाकर
किसी पहाड़ी की तरफ बढ़ रहे हैं
अँधेरी रात में दूर से तैरकर आते हुए स्वर

मेरे कानों में
हैया-हैया बोल रहे हैं

जैसे बहुत सारे लोग
एक साथ ताकत लगाकर
किसी इमारत के विशाल बुलंद दरवाज़े
खोल रहे हैं
देखिए क्या होता है।

1975 के संपूर्ण क्रांति आंदोलन के संदर्भ में लिखी गई कविता

अपराध

एक दिन
एक आदमी ज़रा तड़के जाग उठा
उसने देखा गली के अँधेरे में
कूड़े का ढेर···और
ठहरी हुई सड़क के सीने पर
खाली होने वाली कचरा गाड़ी
उसे बहुत बुरा लगा···
और सिर्फ वह सो नहीं पाया
धीरे-धीरे लोग इकट्ठा होते गए सुबह तक
कूड़े-कचरे और गलाजत से भरी गली
लोगों से भर आई
उसने सधी हुई नज़रें उठाईं
और लोगों से कहा—
ये हमारी गली है
लेकिन वह एक आवाज़ बंद है
जिसमें लाखों आवाज़ें पिन्हा हैं
सुनते हैं उसे पकड़कर
चंद सिरफिरों ने
जेल में ठूँस दिया है
सुनते हैं अब उससे यह पूछा जाएगा
तुमने यह खामोशी क्यों तोड़ी
तुम वक्त से पहले क्यों जागे

तुमने क्यों देखा हमारी कचरा गाड़ी को,
अपनी गली में

लेकिन वे लोग सयाने न थे
और दोपहर की धूप बहुत तेज़ थी
जब भीड़ छँटने लगी
तो उसने देखा कि वह अकेला है
और भीड़ का फायदा उठाकर
कोई सड़कों पर आग
घरों के छज्जों पर मरे कौवे
विश्वविद्यालय के अहातों में
एक अजीब-सी बदबू फेंक गया है
उसने घिर आती हुई भीड़ के सामने
एक नाम लिया
और लोगों ने उस पर यकीन कर लिया
लोगों ने उसकी नज़रों से देखा
उसकी भाषा से समझा
अपनी गली का इतिहास
बच्चों से लेकर बूढ़े तक
विभाजन की कृत्रिम दीवारों के पार झाँकने लगे
मज़हब की सच्ची इंसानी व्याख्याओं में
खुद को परखने की आदत धीरे-धीरे बढ़ी
उसे इंसानियत और संस्कृति का प्रतीक माना जाने लगा
छुटे हुए सिलसिले जोड़ने में मज़ा आने लगा

अब शाम किसी खतरे की तरह नाज़िल नहीं होती
लोगों ने अँधेरे से लड़ने की सूरत समझ ली
चाहे कितना भी भारी हो बोझ
हाथों पर थामा जा सकता है
जुल्म चाहे कितना हो
आवाज़ मरती नहीं है
उसने सिर्फ इतना कहा था कि आवाज़ें देते रहो
कोई पूरब से दो
कोई उत्तर-दक्खिन और पच्छिम से
सिर्फ जुड़े रहो···बोलते हुए

यानी खामोशी तोड़ते रहो
जैसे सड़कों पर पत्थर
या शोषण की ज़ंजीरें तोड़ी जाती हैं
दुनिया सुनती है कि पूरब की उस गली से आवाज़ें
सब तक आती हैं

रचनाकाल : 1974-75

उस नई कविता पे मरती ही नहीं हैं लड़कियाँ

याद आता है कि मैं हूँ शंकरन या मंकरन
आप रुकिए फाइलों में देखकर आता हूँ मैं

हैं ये चिंतामन अगर तो हैं ये नामों में भ्रमित
इनको दारू की जरूरत है ये बतलाता हूँ मैं

मार खाने की तबीयत हो तो भट्टाचार्य की
गुलगुली चेहरा उधारी माँगकर लाता हूँ मैं

तुम इन्हें विट्ठल कहो भाई कहो या फिर पटेल
एक ब्लू फिल्मों-सी प्यारी शक्ल दिखलाता हूँ मैं

जैसे तेंदू लीब्ज़ में उम्दा तमाखू रोज़ ब्रांड
ऐसे पाजामे में बढ़िया आदमी पाता हूँ मैं

इनका चेहरा है कि हुक्का है कि है गोबर गणेश
किस कदर संजीदगी यह सबको समझाता हूँ मैं

उस नई कविता पे मरती ही नहीं हैं लड़कियाँ
इसलिए इस अखाड़े में नित ग़ज़ल गाता हूँ मैं

कौन कहता है निगम को और शिव को आदमी
ये बड़े शैतान मच्छर हैं ये समझाता हूँ मैं

ये सुमन उज्जैन का है इसमें खुशबू तक नहीं
दिल फिदा है इसकी बदबू पर कसम खाता हूँ मैं

इससे ज़्यादा फितरती इससे हरामी आदमी
हो न हो दुनिया में पर उज्जैन में पाता हूँ मैं

पूछते हैं आप मुझसे उसका हुलिया उसका नाम
भगवती शर्मा को करके फोन बुलवाता हूँ मैं

वो अवंतीलाल अब धरती पे चलता ही नहीं
एक गुटवारे-सी उसकी शख़्सियत पाता हूँ मैं

सबसे ज़्यादा कीमती चमचा हूँ मैं सरकार का
नाम है मेरा बसंती राव कहलाता हूँ मैं।

प्यार से चाहे शरद की मार लो हर एक गोट
वैसे वो शतरंज का माहिर है बतलाता हूँ मैं

1 अप्रैल 1975 के उज्जैन टेपा-सम्मेलन के लिए लिखी गई और वहाँ तमाम श्रोताओं के समक्ष आयोजक शिव शर्मा के अनुसार तरन्नुम में पढ़ी गई।

चल भई गंगाराम भजन कर[1]

सूखे ताल भरी दोपहरी
प्यासी मारी फिरे टिटहरी
गरमी गहरी से भी गहरी
सहनी है चुपचाप सहन कर

घर के दरवाज़ों पर पहरा
जलसों पर नारों पर पहरा
सारे अखबारों पर पहरा
खबरें आती हैं छन-छनकर

अपनी कलम···उठाकर रख दे
या फिर इसको इसका हक दे
तनिक सचाई की न झलक दे
सिर्फ उजालों का वर्णन कर

पथ ऐसे सुनसान पड़े हैं
जैसे लोग यहाँ लँगड़े हैं
कुछ जो राहें रोक खड़े हैं
हाथ जोड़कर इन्हें नमन कर

वे जो प्रतिभावान बड़े हैं
उनके साथ बड़े लफड़े हैं
अंतिम निर्णय का अवसर है
इन प्रश्नों पर आज मनन कर

मैंने देखा यार! निकट से
कोई त्राण नहीं संकट से
यह सर ऊँचा है चौखट से
औ' फिर तू चलता है तनकर

"हर भूखे को मिले निवाले
बीत गए वे दुर्दिन काले"
इन अफवाहों को अपना ले
उन अफवाहों का खंडन कर

चल भई गंगाराम भजन कर

अप्रैल, 1975/आपातकाल के विरुद्ध की रचना। यह कविता 'साये में धूप' की ग़ज़लों वाले रजिस्टर पर लिखी सबसे अंतिम और रफ कविता थी, जिसे संपादक ने हिमाकत करते हुए अंतिम रूप दिया है।

ग़ज़लें

आत्मकथ्य

इधर बार-बार मुझसे यह सवाल पूछा गया है और यह कोई बुनियादी सवाल नहीं है कि मैं ग़ज़लें क्यों लिख रहा हूँ? यह सवाल कुछ-कुछ ऐसा ही है जैसे बहुत दिनों तक कोट-पतलून पहनने वाले आदमी को एक दिन धोती-कुर्ते में देखकर आप उससे पूछें कि तुम धोती-कुर्ता क्यों पहनने लगे? मैं महसूस करता हूँ कि किसी भी कवि के लिए कविता में एक शैली से दूसरी शैली की ओर जाना कोई अनहोनी बात नहीं बल्कि एक सहज और स्वाभाविक प्रक्रिया है। किंतु मेरे लिए बात सिर्फ़ इतनी नहीं है। सिर्फ़ पोशाक या शैली बदलने के लिए मैंने ग़ज़लें नहीं कहीं। उसके कई कारण हैं जिनमें सबसे मुख्य है कि मैंने अपनी तकलीफ़ को··उस शदीद तकलीफ़, जिससे सीना फटने लगता है, ज़्यादा से ज़्यादा सचाई और समग्रता के साथ ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचाने के लिए ग़ज़ल कही है।

ज़िंदगी में कभी-कभी ऐसा दौर आता है जब तकलीफ़ गुनगुनाहट के रास्ते बाहर आना चाहती है। उस दौर में फँसकर ग़मे जानाँ और ग़मे दौराँ एक हो जाते हैं। ये ग़ज़लें दरअसल ऐसे ही एक दौर की देन हैं।

यहाँ मैं साफ़ कर दूँ कि ग़ज़ल मुझ पर नाज़िल नहीं हुई। मैं पिछले पच्चीस वर्षों से इसे सुनता और पसंद करता आया हूँ और मैंने कभी चोरी-छिपे इसमें हाथ भी आज़माया है। लेकिन ग़ज़ल लिखने या कहने के पीछे एक जिज्ञासा अकसर मुझे तंग करती रही है और वह यह कि भारतीय कवियों में सबसे प्रखर अनुभूति के कवि मिर्ज़ा ग़ालिब ने अपनी पीड़ा की अभिव्यक्ति के लिए ग़ज़ल का माध्यम ही क्यों चुना? और अगर ग़ज़ल के माध्यम से ग़ालिब अपनी निजी तकलीफ़ को इतना सार्वजनीन बना सकते हैं तो मेरी दुहरी तकलीफ़ (जो व्यक्तिगत भी है और सामाजिक भी) इस माध्यम के सहारे एक अपेक्षाकृत व्यापक पाठक वर्ग तक क्यों नहीं पहुँच सकती?

मुझे अपने बारे में कभी मुग़ालते नहीं रहे। मैं मानता हूँ, मैं ग़ालिब नहीं हूँ। इस प्रतिभा का शतांश भी शायद मुझमें नहीं है। लेकिन मैं यह नहीं मानता कि मेरी तकलीफ़ ग़ालिब से कम है या मैंने उसे कम शिद्दत से महसूस किया है। हो

सकता है, अपनी-अपनी पीड़ा को लेकर हर आदमी को यही वहम होता हो...लेकिन इतिहास मुझसे जुड़ी हुई मेरे समय की तकलीफ़ का गवाह ख़ुद है।

बस...अनुभूति की इसी ज़रा-सी पूँजी के सहारे मैं उस्तादों और महारथियों के अखाड़े में उतर पड़ा। मैं जानता था कि हिंदी में निराला से लेकर शमशेर तक अनेक प्रतिभाशाली कवियों ने ग़ज़ल के माध्यम को आज़माया है। ग़ज़ल का चस्का मुझे ख़ुद शमशेर बहादुर सिंह की ग़ज़लें सुनकर लगा था। हाँ, मैंने ग़ज़ल अपने चारों ओर बुनी जा रही कविता की एकरसता तोड़ने के लिए भी कहना शुरू किया।

यह एक विवादास्पद बात हो सकती है, पर मैं बराबर महसूस करता रहा हूँ कि कविता में आधुनिकता का छद्म कविता को बराबर पाठकों से दूर करता गया है। कविता और पाठक के बीच इतना फ़ासला कभी नहीं था, जितना आज है। इससे भी ज़्यादा दुःखद बात यह है कि कविता शनैः-शनैः अपनी पहचान और कवि अपनी शख़्सियत खोता गया है। ऐसा लगता है, गोया दो दर्जन कवि एक ही शैली और शब्दावली में एक ही कविता लिख रहे हैं। इस कविता के बारे में कहा जाता है कि यह सामाजिक और राजनीतिक क्रांति की भूमिका तैयार कर रही है। मेरी समझ में यह वक्तव्य भ्रामक है और यह दलील खोटी है। जो कविता लोगों तक पहुँचती नहीं, उनके गले नहीं उतरती, वह किसी भी क्रांति की संवाहिका कैसे हो सकती है!

पिछली पीढ़ी के कवियों के बरअक्स आज की इन कविताओं में यह तय कर पाना भी मुश्किल है कि यह किसकी कविता है और यह कविता है भी कि नहीं। इसीलिए मैंने कहा कि कविता की एकरसता या फिर आधुनिक, युवा, वाम और नई आदि विशेषणों से मंडित आज की कविता के वाग्जाल और सपाटबयानी से उकताकर मैंने उर्दू के इस पुराने और आज़मूदा माध्यम की शरण ली है—गोकि मैं जानता था कि यहाँ भी इश्क और हुस्न से हटकर आज की तकलीफ़ का बखान एक मुश्किल और नाजुक काम है और ग़ज़ल की रवायत से बँधे हुए लोग मेरी इस कोशिश पर नाक-भौं ज़रूर सिकोड़ेंगे।

और मेरा संदेह ग़लत नहीं निकला। पाकिस्तान और हिंदुस्तान की नई पीढ़ी के उर्दू अदीबों ने जहाँ इन ग़ज़लों को हाथोहाथ लिया, वहाँ कुछ पुराने शायरों ने व्यंग्य और तीखे यथार्थ के कुछ अशआर के बारे में कहा कि ये 'ग़ज़ल के शे'र' नहीं हैं। अलबत्ता हिंदी में नई कविता से गीत और कहानी से व्यंग्य तक हर विधा के रचनाकारों पर उनकी अच्छी-बुरी प्रतिक्रिया हुई।

मुझे लगता है, आज जब कविता में छंद और काव्य में अनुशासन की बात फिर से उठाई जाने लगी है, और उन लोगों द्वारा उठाई जाने लगी है जो कविता को अकविता बनाने की साज़िश में शामिल थे—तो शायद हिंदी में ग़ज़ल लाने की मेरी यह कोशिश रायगाँ नहीं जाएगी।

नई कविता का कवि छंद के अनुशासन और आवश्यकता से परिचित था। किसी हद तक उस पर अधिकार भी रखता था, परंतु वह छंद की रूढ़ियों या छंद के ढाँचे में कुछ नया न कह पाने की विवशता से छंदहीनता की ओर उन्मुख हुआ। इसीलिए जब भी और जहाँ भी छंद में नया कुछ कहा गया, नई कविता ने उसका स्वागत किया और उसे अपनाया। श्री केदारनाथ सिंह और श्री ठाकुरप्रसाद सिंह के गीतों की स्वीकृति इसका प्रमाण है। इसलिए बावजूद इसके कि ग़ज़ल एक स्वतंत्र चीज़ है, मैं इसे नई कविता की एक विधा तक मानने को तैयार हूँ।

एक बात इन ग़ज़लों की भाषा के बारे में मुझे और कहनी है, जिसे लेकर शुरू-शुरू में मुझे सबसे अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ा। मेरी दिक़्क़त यह थी कि उर्दू मैं जानता नहीं और हिंदी में मुझे वह चुहल, वह मुहावरा और बोलचाल का वह बहाव नहीं मिला, जिसके सहारे ग़ज़ल कही जाती है या जो ज़्यादातर लोगों की ज़बान पर चढ़ा है। मगर यही अज्ञानता मेरे लिए एक शक्ति बन गई, क्योंकि मुझे लगा कि आम आदमी एक मिली-जुली ज़बान बोलता है। वह न तो शुद्ध उर्दू होती है, न शुद्ध हिंदी। इसलिए मैंने इस भाषा की तलाश शुरू की जो हिंदी को हिंदी और उर्दू को उर्दू दिखाई दे और आम आदमी उसे अपनी ज़ुबान समझकर अपना सके। इस प्रक्रिया में मैंने उर्दू शब्दों के तत्सम रूपों को रद्द करके उन्हें उस तरह स्वीकार किया, जिस तरह वे हिंदी में प्रचलित हैं—जैसे वज़्न को वज़न, शह्र को शहर या फ़सील को सफ़ील।

यों प्रयोग के लिए मैंने कुछ ग़ज़लें शुद्ध हिंदी और कुछ शुद्ध उर्दू में भी कही हैं। किंतु मैंने देखा कि उनमें से ज़्यादातर या तो ज़्यादा साहित्यिक हो गई हैं या ज़्यादा कृत्रिम। और मैं सामान्य जीवन की जिस बेचैनी को उजागर करना चाहता हूँ, वह शब्दों की चमक-दमक में कहीं खो गई है। इसलिए इन ग़ज़लों में ग़ज़लियत के साथ मेरी एक कोशिश यह भी रही है कि हिंदी और उर्दू के बीच ये एक सेतु का काम कर सकें। और यह इसलिए संभव लगता है कि कथ्य के स्तर पर इनमें मौजूदा हालात की बात कही गई है। जो दृश्य सामने है, वह दृश्य जो सामने होना चाहिए उसकी ज़रूरत, समाज का जूझता और टूटता हुआ रूप, राजनीति और राजनीतिज्ञों का मुल्क़ और समाज के साथ सुलूक, इंसान यानी अवाम की ज़िंदगी, ज़रूरतें और उसके ख़तरे···इन सबको मैंने इन ग़ज़लों में बाँधा है और इन संजीदा और भारी-भरकम मुद्दों को सहज से सहज अभिव्यक्ति और सादी से सादी भाषा में बयान करने की कोशिश की है :

कैसे मंज़र सामने आने लगे हैं
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।

या

बाढ़ की संभावनाएँ सामने हैं
और नदियों के किनारे घर बने हैं।
चीड़-वन में आँधियों की बात मत कर
इन दरख़्तों के बहुत नाज़ुक तने हैं।
आपके क़ालीन देखेंगे किसी दिन
इस समय तो पाँव कीचड़ में सने हैं।
इस तरह टूटे हुए चेहरे नहीं हैं
जिस तरह टूटे हुए ये आईने हैं।
जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं।

मैंने इस ग़ज़ल के कुछ ज़्यादा अंश इसलिए उद्धृत किए कि इसके बाद मैं आपसे यह सवाल पूछ सकूँ कि यह हिंदी है या उर्दू? दरअसल यह सवाल अनेक बार मेरे सामने उठाया गया है। मैंने हाल ही में रेडियो कश्मीर के कवि-सम्मेलन में जम्मू से जब ये ग़ज़लें पढ़ीं तो कुछ उर्दू-प्रेमी श्रोताओं ने सराहना के साथ यह एतरात भी किया था कि यह हिंदी कविता किधर से है? वो ग़ज़ल···

ये सारा जिस्म झुककर बोझ से दुहरा हुआ होगा
मैं सजदे में नहीं था आपको धोखा हुआ होगा।

यहाँ प्रकाशित की जा रही है। आप उसे पढ़िए और फिर मुझे बताइए कि वह उर्दू किधर से है? मैं तो यह मानता हूँ कि उर्दू और हिंदी दोनों सगी बहनें हैं। और दोनों जब अपने ऊँचे सिंहासनों से उतरकर आम आदमी के पास आती हैं तो उनमें फ़र्क़ कर पाना बड़ा मुश्किल होता है।

मैं स्वीकार करता हूँ कि ग़ज़ल को किसी भूमिका की ज़रूरत नहीं होती। हिंदी की आधुनिक कविता, जिसे पढ़ने के बाद एक धुँधला-सा चित्र उभरता है और जिसके बारे में पाठक निश्चयपूर्वक नहीं कह सकता कि यह वही चित्र है, जिसे कवि उभारना चाहता है—मेरी कविता नहीं है। मैं प्रतिबद्ध कवि हूँ···यह प्रतिबद्धता किसी पार्टी से नहीं, आज के मनुष्य से है और मैं जिस आदमी के लिए लिखता हूँ, यह भी चाहता हूँ कि वह आदमी उसे पढ़े और समझे।

—दुष्यन्त कुमार

कुछ प्रारम्भिक ग़ज़लें

ये बात-बात पे आँसू···ये कोई बात नहीं
मैं तेरे साथ हूँ गो मेरी कुछ बिसात नहीं।

हरेक शख़्स की किस्मत से रश्क होता है
ये क़ायनात हमारी ही कायनात नहीं।

जो बेसुरे हैं वो मजमों के बीच जीते हैं
जो साज़ सुर में हैं उनकी कोई समात नहीं।

यह शायद पहली ग़ज़ल है जो 1948-50 के बीच लिखी गई चंदौसी काल में/अधूरी

आ के नज़दीक थका बैठ गया मंज़िल के
साथ जब प्यार की दुआ न रही।

बर न आई कभी उम्मीद वस्ल की तेरे
तुझसे मिलने की कोई राह न रही।

नाजुक हालत में बढ़ना लाज़िम था
मर्ज़ को, जब कोई दवा न रही।

दिले नादाँ क्यों याद करता है
उसको, जिसको तेरी परवाह न रही।

कैसे सह पाओगे ज़ुल्मो-सितम
कोई सूरत ही नज़र आ न रही।

कौन-सा दिल नहीं तुमने तोड़ा
ज़ुल्म की तेरे इन्तहा न रही।

1949

गुलशन में अगर आती है खिजाँ आएगी बहार लाजिम है
मुमकिन है किसी दिन मेरी भी सब मुश्किलें आसाँ हो जाएँ

है हुस्न मिला ताउम्र मुझे आँसू के कड़ुवे घूँट पियूँ
मुमकिन है किसी दिन मेरे लिए बदले हुए फरमाँ हो जाएँ

है इश्क में कुछ तासीर अगर बदलेगी फिज़ा बदलेगी नज़र
मुमकिन है सफीनों से ज़्यादा बेहतर मुझे तूफाँ हो जाएँ

डरता भी मगर हूँ मैं दिल में जब कोई बता जाता है यह
मुमकिन है तुम्हारे कातिल के खुद ये ही अरमाँ हो जाएँ

'त्यागी' न नसीबे-दुनियाँ से भी रश्क करो, अपने दिल में
मुमकिन है मुहय्या तुमको भी कल इश्क के सामां हो जाएँ

1 सितंबर 1951/यह कवि की लिखी दूसरी ग़ज़ल है जिस पर बहादुर शाह ज़फ़र की सुप्रसिद्ध ग़ज़ल 'ऐ जज़्ब-ए-दिल गर मैं चाहूँ' का साफ असर दिखाई दे रहा है। कवि तब इलाहाबाद विश्वविद्यालय में बी.ए. द्वितीय वर्ष का छात्र था।

अब मुसकरा रहे हैं मुँडेरों पे कुछ दिये।
कहते हैं आँधियों को इधर भेज दीजिए।

चाहें तो आप मुँह भी न खोलें जवाब में
मेरा सवाल ये है कि दिल तो टटोलिए।

हमको भी देश से है मुहब्बत किसान-सी
हमने भी अपने खेत में पुतले खड़े किए।

अच्छे-खराब गीत सुने हैं अनेक बार
शादी में पहली बार सुने हमने मर्सिए।

ये सर अलग हवा में मेरा झूलता रहा
दलदल में धँस गया है यहाँ धड़ निकालिए।

1952

अतिरिक्त शेर

परदे-हरीम-नाज़ के उठते नहीं हैं बार-बार
कहती हैं सब सहेलियाँ सोच के दिल दिया करूँ।।

संभावित रचनाकाल : 1956

एक लम्हे में जी गया सब उम्र
और अब मुझसे जी नहीं जाती।

तेरी मजबूरियाँ समझता हूँ
फिर भी दूरी सही नहीं जाती।।

आदतन चुप रहा नहीं जाता
तुझ से कुछ बात की नहीं जाती।।

चेहरों में झाँक-झाँक के देखा है बार-बार
हर एक आग सर्द है तुझको खबर नहीं।

कोई भी अक्स पानी में आता नहीं नज़र
पानी का रंग ज़र्द है तुझको खबर नहीं

माहौल में अजीब-सी सरगोशियों के साथ
कुछ टूटने का दर्द है तुझको खबर नहीं।

गुज़रा है कोई कारवाँ काफी करीब से
दीवारो-दर पे गर्द है तुझको खबर नहीं।

मुझको फ़िराक़े-यार में कोई बताए क्या करूँ
कैसे ये गम समेट लूँ कैसे ये हक अदा करूँ।

शीशे चटख गए तो आज अक्स अजनबी हुए
मांगू कहाँ मनौतियाँ जाकर कहाँ दुआ करूँ।

रस्मो-रिवाज के तहत कुछ लोग मुस्करा दिए
दिन-रात एक बात पर क्या सोचकर रहा करूँ।

तू ही नहीं है जाने जाँ मैं भी तो बेकरार हूँ
सोच के मुझको यह बता तुझसे कहाँ मिला करूँ।

अशआर भी है एक पुल मेरे-तुम्हारे दरमियाँ
लहरों पे तुम कहा करो दरिया पे मैं सुना करूँ।

किसे साज़ कहके छेड़ूँ किसे नग़मा कहके गाऊँ
कोई एक तो हो ऐसा जिसे राज़े-दिल बताऊँ

रहे फासला मुसलसिल मेरे बीच का सलामत
कि मैं बार-बार लौटूँ कि मैं बार-बार आऊँ

तुम्हें जिसने पा लिया है बड़ा खुशनसीब होगा
मैं कहाँ पनाह माँगू मैं कहाँ पनाह पाऊँ

याँ हज़ार रास्ते हैं सभी तेरे वास्ते हैं
चलूँ कौन-सी डगर पर जो न मेरे पास आऊँ

मैं न तुमसे कह सका हूँ औ' न तुमसे कह सकूँगा
मैं कहाँ पनाह माँगू मैं कहाँ पनाह पाऊँ

1956

सवाल-जवाब

तुम नहीं आए, क्यों नहीं आए?
कौन जीता है कौन मरता है।

अब हो अरमा गुज़र गया हमको
अब भी दिल पर गराँ गुज़रता है।

हम कभी उस तरफ नहीं आए
कौन फिर मुझसे बात करता है

क्या हुआ इन दिनों तुम्हारा दिल
तेरी मौजूदगी से डरता है

किस तरह तुम बचे जिए क्योंकर
जिस तरह दर्दे-दिल उभरता है

किसके आँचल का पा गए साया
वह जो सब पर निगाह करता है

1956

चलो कुछ गुनगुना के देखें ये शायद रात कट जाए
ठिठुरते जिस्म की सिहरन ज़रा-सी और घट जाए।

अब अपने मेहरबाँ से छेड़ करना भी ज़रूरी है
भले ही शख्सियत अपनी कई टुकड़ों में बँट जाए।

खुदा का शुक्र है हर आदमी अब सोचता तो है
अगर ये नींव काँपे और ये दीवार हट जाए

ये साज़िश है, ये किस्मत की नवाज़िश हो नहीं सकती
कि हर कश्ती किनारे पर पहुँचते ही उलट जाए

तुम्हें जो चीखना है और थोड़ा जोर से चीखो
तुम्हारा दर्द इसमें और बढ़ जाए कि घट जाए

बड़ी तैयारियों के साथ हमने वक्त को छेड़ा
हमारी जुस्तजू है वक्त का पन्ना पलट जाए

तेरी ख्वाहिश है तू दुनिया को फैला दे सितारों तक
मेरी कोशिश है वो इक प्यार के पल में सिमट जाए

वो क्या सारा ज़माना इस अदब को सर झुकाएगा
ये मसला भर हमारी चंद ग़ज़लों से निपट जाए

संभावित रचनाकाल : 1957

और हो जाए बियाबान, मेरी राहगुज़र।
कर सको जितने भी तूफान करो मेरी नज़र।

मैंने सोचा था, सफीने को यहाँ दम दे लूँ,
तूने भड़का दिया लहरों को 'तलातुम' कहकर।

तुझसे शिकवे भी करूँ, और मुहब्बत भी करूँ,
मेरी लोहे की ज़बाँ है, न मेरा दिल पत्थर।

कुछ उमीदों के महल, मैंने उठाए, लेकिन
गम उठाया ही नहीं, तेरा सहारा लेकर।

अपनी सब उम्र उसी एक लम्हे में जी ली
अब रही ज़ीस्त की ख़्वाहिश, न रहा मौत का डर।

रात खामोश, अकेला हूँ, सड़क सूनी है,
पर नुमायाँ हैं फिज़ा में तेरे कदमों का असर।

अपनी खामोशी का रह-रह के खयाल आता है
कौन ले जाएगा पैगामे-मुहब्बत घर-घर?

मुझको पहचाने भी अहबाब तो किस हालत में!
अब ज़माने में हुआ पस्त, अदब में बेहतर।

संभावित रचनाकाल : 1956-57

अपना सब कुछ तेरी नज़र कर दूँ
ला तेरी ज़िंदगी में लय भर दूँ

मेरी खुशियाँ निसार हैं तुझ पर
जा रहा हूँ तुझे खबर कर दूँ

मेरी तासीरे-इबादत मत पूछ
तेरी हर शाम को सहर कर दूँ

मेरे वश में नहीं वगरना मैं
ये ज़माना इधर-उधर कर दूँ

मार्च-अप्रैल, 1957

इश्क से बेबसी नहीं जाती
ज़िंदगी है कि जी नहीं जाती

कुछ तवाज़ुन का खयाल है वरना
बात मुझसे भी की नहीं जाती

बेअसर गुम है गूँज सजदों की
गोया तुझ तक कभी नहीं जाती

हर बहाने को तौलकर देखा
अलविदा तुझसे की नहीं जाती

रचनाकाल : मार्च-अप्रैल, 1957, जुलाई, 1957 के 'कवि' में प्रकाशित

वो काफिले जो तुम्हें राह में मिले होंगे
तुम्हारी आँख से ओझल नहीं हुए होंगे।

तुम्हीं न देखना चाहो तो क्या करे कोई
तुम्हारे घर से कई घर लगे हुए होंगे।

जवान रात चट्टानों पे टिक गई होगी
पहाड़ सर को झुकाए हुए खड़े होंगे।

मुझे लगा है सितारों को देखकर यूँ ही
बहुत-से लोग किसी इंतज़ार में होंगे।

कोई हमें तो बताए कि ऐसे मौसम में
यहाँ से उड़ के परिंदे कहाँ गए होंगे।

न जाने क्यों मुझे लगता है इस गुलिस्ताँ में
हर एक शाख पे कुछ घोंसले रहे होंगे।

तुम्हारा देश तुम्हारे जीवन में औ' सपनों में भर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

देश में व्याप्त तरुण विक्षोभ
कला में अनाचार, अतिचार
व्यक्ति की कुंठाओं का नृत्य
समय का त्रासद हाहाकार

एक दिन अनजाने ही क्रांति
तुम्हारे सपनों में भर गई
तुम्हारे चिंतन की धारा को
सहसा परिवर्तित कर गई
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

मृत्यु के तट पर थे आदर्श
मूल्य थे अवमूल्यन के छंद
आत्मचिंतन था पीड़ायुक्त
मुक्ति की कोठरियों में बंद

समाज अपनी चेतना विलुप्त
तुम्हारे मानस में भर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

समय के सामन्तों के साथ
दमन का करते हुए विरोध
कि तुमने अपना हर क्षण किया
लिया जर्जर जन का प्रतिरोध

तुम्हारी क्रांति तुम्हारे साहस का
स्तर गूँजा, घर-घर गया
और फिर न्याय और समता का बोध
तुम्हारे भीतर उतर गया
और फिर तुमने अपने युग की रचना नए सिरे से की

संभावित रचनाकाल : 1964-65

वो रुत कि जिसमें समंदर को प्यास लगती है।
वो आज हमको क़रीने-क़यास लगती है।

हरेक शाम की तस्वीर में अलग रंग है
हरेक पहले से ज़्यादा उदास लगती है।

यहाँ पे छुप के कहीं वो खड़ी हुई होगी
यहाँ फ़िज़ाँ में गज़ब की मिठास लगती है।

जहाँ पे बैठ के सपने बुना किए हम-तुम
वो एक आम जगह आज खास लगती है।

न आँसुओं से ज़मीं तर न उँगलियों में लहू
कहीं बगीचों में ऐसे भी घास लगती है।

1972

मैंने देखा है नहीं आती है अब बाम पे वो,
यों कि नाराज़-सी लगती है सुबह-शाम पे वो।

ये भी मुमकिन है मुझे भूल गई हो लेकिन,
एक झिझकी-सी क्यों लेती है मेरे नाम पे वो।

कितना बेकस है गुनहगार का इख़लाक तो देख,
सर झुका लेती है चुपचाप हर इल्ज़ाम पे वो।

अपने माझी से परेशाँ है न मुस्तकबिल से,
अपने आगाज़ से वाकिफ है न अंजाम से वो।

इतनी मुस्तैद नहीं थी वो कभी लेकिन अब,
हर घड़ी घर में लगी रहती है हर काम पे वो।

मेरी ग़ज़लों की तरह वक्त के मैखाने में,
जाम टकराती नज़र आती है हर जाम से वो।

रचनाकाल : 1972
14 दिसंबर, 1975 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित

हर दर्द बेनक़ाब हुआ चाहता है अब
सीने में इंक़िलाब हुआ चाहता है अब।

नज़रें चुरा के जिससे चले थे तमाम उम्र
उस वक़्त से ख़िताब हुआ चाहता है अब।

आँसू जहाँ गिरे मेरे उस ज़मीन का
हर ज़र्रा आफ़ताब हुआ चाहता है अब

अपने चमन की सारी तितलियों को बींधकर
काँटा यहाँ गुलाब हुआ चाहता है अब।

उसने ज़मीर बेच दिया है तो शक नहीं
वो शख़्स कामयाब हुआ चाहता है अब।

तकलीफ़ शायरी की जदों में नहीं रही
हर लफ्ज़ एक किताब हुआ चाहता है अब।

पहले भी इस फ़िज़ाँ में कोई कम घुटन न थी
मौसम बहुत खराब हुआ चाहता है अब।

1972

जाने किस-किस का ख़याल आया है।
एक प्याले में उबाल आया है।

कल तो निकला था बहुत सज-धज के,
आज लौटा तो निढाल आया है।

कितना चंचल है, हवा का झोंका,
साफ़ पानी को खँगाल आया है।

एक ढेला तो वहीं अटका था,
एक तू और उछाल आया है।

इस अँधेरे में दीया रखना था,
तू उजाले में ही बाल आया है।

यह नज़र है कि कोई मौसम है,
ये तबा है कि बवाल आया है।

उनके होंठों में हुआ था कंपन
मेरे हाथों में रूमाल आया है

हमने सोचा था जवाब आएगा,
एक पेचीदा सवाल आया है।

फुटकल शेर

इन फ़िज़ाओं को किसी रात की रानी ने छुआ।
मेरी कविता ने छुआ तेरी कहानी ने छुआ।।

कुछ नमी आई तो इस पेड़ में कोंपल फूटी
कितने सूखे थे किनारे जिन्हें पानी ने छुआ।।

1975

पहले मेरे और उनके बीच ये परदा न था,
कुछ कुहासा था मगर वह इस धुएँ जैसा न था।

मुड़ के देखेगी हिकारत से तुझे तारीख कल
तेरी पीढ़ी में किसी धड़ पर कोई चेहरा न था।

आदमी सूरत नहीं सीरत से होता है जवाँ
हमने ये सब पढ़ तो रक्खा था मगर सोचा न था।

आज कूदा हूँ, तुम्हारे साथ इस गिर्दाब में
इससे पहले मैंने ये दरिया कभी देखा न था।

कल लहू से तर-ब-तर थे पाँव इसके बावजूद
मेरे होंठों पर कभी ऐसा कोई शिकवा न था।

एक अफसाने को सुनकर मेरी आँखें नम हुईं
बुत बना बैठा था मैं पर बुत बना बैठा न था।

रचनाकाल : 1972/14 दिसंबर, 1975 के 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में प्रकाशित

ग़ज़ल

पहले मेरे और उनके बीच ये परदा न था,
कुछ कुहासा था मगर वह इस धुँए जैसा न था।

मुड़के देखेगी हिकारत से मुझे तारीख़ कल
होती पीढ़ी में किसी धड़ पर कोई चेहरा न था।

आदमी सूरत नहीं सीरत से होता है जवाँ
हमने ये सब पढ़ तो रखा था मगर सोचा न था।

आज कूदा हूँ तुम्हारे साथ इस गिर्दाब में
इससे पहले मैंने ये दरिया कभी देखा न था।

कल लहू से तरबतर थे पाँव इसके बावजूद
मेरे होंठों पर कभी ऐसा कोई शिकवा न था।

एक अफ़साने को सुनकर मेरी आँखें नम हुईं
बुत बना बैठा था मैं पर बुत बना बैठा न था।

दुष्यन्त कुमार

अगर कमान को खींचा तो कान तक न गई
कोई उड़ान यहाँ आसमान तक न गई।

नए सफ़र के पड़ावों पे गुफ़्तगू न करो,
अभी तो पाँवों से पिछली थकान तक न गई।

तुम अपनी-अपनी हक़ीक़त के खुद गवाह बनो,
यह चाँदनी तो किसी तर्जुमान तक न गई।

बहुत शदीद थी तकलीफ़ रात सीने में,
तेरे लिहाज़ के मारे ज़ुबान तक न गई।

कहाँ तो शहर सुलगने लगे हैं धू-धू कर
कहाँ लपट भी तुम्हारे मकान तक न गई।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

होने लगी है जिस्म में जुंबिश तो देखिए,
इस परकटे परिंदे की कोशिश तो देखिए।

गूँगे निकल पड़े ज़ुबाँ की तलाश में,
सरकार के ख़िलाफ़ ये साज़िश तो देखिए।

बरसात आ गई तो दरकने लगी ज़मीन,
सूखा मचा रही ये बारिश तो देखिए।

उनकी अपील है कि उन्हें हम मदद करें,
चाकू की पसलियों से गुज़ारिश तो देखिए।

जिसने नज़र उठाई वही शख़्स गुम हुआ,
इस जिस्म के तिलिस्म की बंदिश तो देखिए।

1975

जिस बात का ख़तरा था वो बात भी कल होगी
जरखेज़ ज़मीनों में बीमार फ़सल होगी।

तफ़सील में जाने से ऐसा तो नहीं लगता
हालात के नक़्शे में अब रद्दोबदल होगी।

स्याही से इरादों की तस्वीर बनाते हो
ग़र ख़ूँ से बनाओ तो तस्वीर असल होगी।

लफ़्ज़ों से निपट सकती तो कब की निपट जाती
पेचीदा पहेली है बातों से न हल होगी।

जो बज़्म में आए थे पर बोल नहीं पाए
उन लोगों के हाथों में कल मेरी ग़ज़ल होगी।

सितंबर, 1975

उनका कहना है कि ये रेत है, सहरा तो नहीं
ये सफ़ीना है भँवर में कहीं ठहरा तो नहीं।

कुछ न कुछ सोच रहा होगा यक़ीनन इंसाँ
यूँ कि वो लागिरों लाचार है बहरा तो नहीं।

फूल-पत्तों पे लिखो चाँदनी रातों पे लिखो
कितने मज़मून हैं हर एक पे पहरा तो नहीं।

मैं समझता हूँ समंदर में उतरकर देखो
ये समंदर है महज़ नाम का गहरा तो नहीं।

मेरी तकलीफ़ समझ जाएँगे सुनने वाले
मेरा हर शे'र दुमानी है इकहरा तो नहीं।

सितंबर, 1975

संगीत महलों की झनकार में नहीं
संगीत तबले या फनकार में नहीं
संगीत तुममें नहीं हममें नहीं
स्वर में या सरगम में नहीं
आज संगीत इस तलवार में है
जो कि उन रस्सों को काटेगी
मुहब्बत के बीच फैले हैं जो
(दिलों के मैले हैं जो)
आज संगीत इस तलवार में है—
क्योंकि संगीत महज़ प्यार में है।

1975

मैं कई मंज़िलें चल सकता था और
इसलिए नहीं रुक गया कि है अँधियारा आगे,
रुकने का कारण बना तुम्हारा साथ
टूटें न अचानक, गति से कच्चे धागे,
बिखरें न हृदय में स्वप्न अभी जो जागे,
होने दो उनको बड़ा अभी पलने दो,
इतने हमको धीरे-धीरे चलने दो।

साये में धूप

मैं स्वीकार करता हूँ…

…कि ग़ज़लों को भूमिका की ज़रूरत नहीं होनी चाहिए, लेकिन एक कैफ़ियत इनकी भाषा के बारे में ज़रूरी है। कुछ उर्दू-दाँ दोस्तों ने कुछ उर्दू शब्दों के प्रयोग पर एतराज़ किया है। उनका कहना है कि शब्द 'शहर' नहीं 'शह्र' होता है, 'वज़न' नहीं 'वज़्न' होता है।

—कि मैं उर्दू नहीं जानता, लेकिन इन शब्दों का प्रयोग यहाँ अज्ञानतावश नहीं, जानबूझकर किया गया है। यह कोई मुश्किल काम नहीं था कि 'शहर' की जगह 'नहर' लिखकर इस दोष से मुक्ति पा लूँ, किंतु **मैंने उर्दू शब्दों को उस रूप में इस्तेमाल किया है, जिस रूप में वे हिंदी में घुल-मिल गए हैं।** उर्दू का 'शह्र' हिंदी में 'शहर' लिखा और बोला जाता है; ठीक उसी तरह जैसे हिंदी का 'ब्राह्मण' उर्दू में 'बिरहमन' हो गया है और 'ऋतु' 'रुत' हो गई है।

—कि उर्दू और हिंदी अपने-अपने सिंहासन से उतरकर जब आम आदमी के पास आती हैं तो उनमें फ़र्क़ कर पाना बड़ा मुश्किल होता है। मेरी नीयत और कोशिश यह रही है कि इन दोनों भाषाओं को ज़्यादा से ज़्यादा क़रीब ला सकूँ। इसलिए **ये ग़ज़लें उस भाषा में कही गई हैं, जिसे मैं बोलता हूँ।**

—कि ग़ज़ल की विधा एक बहुत पुरानी, किंतु सशक्त विधा है, जिसमें बड़े-बड़े उर्दू महारथियों ने काव्य-रचना की है। हिंदी में भी महाकवि निराला से लेकर आज के गीतकारों और नये कवियों तक अनेक कवियों ने इस विधा को आज़माया है। परंतु अपनी सामर्थ्य और सीमाओं को जानने के बावजूद इस विधा में उतरते हुए मुझे आज भी संकोच तो है, पर उतना नहीं जितना होना चाहिए था। शायद इसका कारण ये है कि पत्र-पत्रिकाओं में इस संग्रह की कुछ ग़ज़लें पढ़कर और सुनकर विभिन्न वादों, रुचियों और वर्गों की सृजनशील प्रतिभाओं ने अपने पत्रों, मंतव्यों एवं टिप्पणियों से मुझे एक सुखद आत्मविश्वास दिया है। इस नाते मैं उन सबका अत्यंत आभारी हूँ।

…और कमलेश्वर! वह इस अफ़साने में न होता तो ये सिलसिला शायद यहाँ तक न आ पाता। मैं तो—

हाथों में अंगारों को लिये सोच रहा था,
कोई मुझे अंगारों की तासीर बताए।

—दुष्यन्त कुमार

कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए
कहाँ चिराग़ मयस्सर नहीं शहर के लिए।

यहाँ दरख़्तों के साये में धूप लगती है,
चलो यहाँ से चलें और उम्र-भर के लिए।

न हो कमीज़ तो पाँवों से पेट ढँक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं, इस सफ़र के लिए।

ख़ुदा नहीं, न सही, आदमी का ख़्वाब सही,
कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिए।

वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,
मैं बेक़रार हूँ आवाज़ में असर के लिए।

तेरा निज़ाम है सिल दे जुबान शायर की,
ये एहतियात ज़रूरी है इस बहर के लिए।

जिएँ तो अपने बगीचे में गुलमोहर के तले,
मरें तो ग़ैर की गलियों में गुलमोहर के लिए।

17 नवंबर, 1974 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित

कैसे मंज़र सामने आने लगे हैं,
गाते-गाते लोग चिल्लाने लगे हैं।

अब तो इस तालाब का पानी बदल दो,
ये कँवल के फूल कुम्हलाने लगे हैं।

'साये में धूप' हिंदी ग़ज़ल की युग-प्रवर्तक कृति है, जिसने हिंदी ग़ज़ल को एक आंदोलन बना दिया।—सं.

वो सलीबों के क़रीब आए तो हमको,
क़ायदे-क़ानून समझाने लगे हैं।

एक क़ब्रिस्तान में घर मिल रहा है,
जिसमें तहख़ानों से तहख़ाने लगे हैं।

मछलियों में ख़लबली है, अब सफ़ीने,
उस तरफ़ जाने से कतराने लगे हैं।

मौलवी से डाँट खाकर अहले-मकतब,
फिर उसी आयत को दोहराने लगे हैं।

अब नई तहज़ीब के पेशे-नज़र हम,
आदमी को भूनकर खाने लगे हैं।

जनवरी, 1975, 'सारिका' में प्रकाशित

ये सारा जिस्म झुककर बोझ से दुहरा हुआ होगा,
मैं सजदे में नहीं था, आपको धोखा हुआ होगा।

यहाँ तक आते-आते सूख जाती हैं कई नदियाँ,
मुझे मालूम है पानी कहाँ ठहरा हुआ होगा।

ग़ज़ब ये है कि अपनी मौत की आहट नहीं सुनते,
वो सब-के-सब परीशाँ हैं वहाँ पर क्या हुआ होगा।

तुम्हारे शहर में ये शोर सुन-सुनकर तो लगता है,
कि इंसानों के जंगल में कोई हाँका हुआ होगा।

कई फ़ाके बिताकर मर गया, जो उसके बारे में,
वो सब कहते हैं अब, ऐसा नहीं, ऐसा हुआ होगा।

यहाँ तो सिर्फ़ गूँगे और बहरे लोग बसते हैं,
खुदा जाने यहाँ पर किस तरह जलसा हुआ होगा।

चलो, अब यादगारों की अँधेरी कोठरी खोलें,
कम-अज़-कम एक वो चेहरा तो पहचाना हुआ होगा।

अपने मित्र के. पी. शुंगलु को समर्पित, जिसने मतले का विचार किया। 'कल्पना', जून, 1975 के अंक में प्रकाशित

इस नदी की धार में ठंडी हवा आती तो है,
नाव जर्जर ही सही, लहरों से टकराती तो है।

एक चिनगारी कहीं से ढूँढ़ लाओ दोस्तो,
इस दिए में तेल से भीगी हुई बाती तो है।

एक खँडहर के हृदय-सी, एक जंगली फूल-सी,
आदमी की पीर गूँगी ही सही, गाती तो है।

एक चादर साँझ ने सारे नगर पर डाल दी,
यह अँधेरे की सड़क उस भोर तक जाती तो है।

निर्वचन मैदान में लेटी हुई है जो नदी,
पत्थरों से, ओट में जा-जाके बतियाती तो है।

दु:ख नहीं कोई कि अब उपलब्धियों के नाम पर,
और कुछ हो या न हो, आकाश-सी छाती तो है।

रचनाकाल : 1975

'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 18 मई, 1975 को प्रकाशित

देख, दहलीज़ से काई नहीं जाने वाली,
ये खतरनाक सचाई नहीं जाने वाली।

कितना अच्छा है कि साँसों की हवा लगती है,
आग अब उनसे बुझाई नहीं जाने वाली।

एक तालाब-सी भर जाती है हर बारिश में,
मैं समझता हूँ ये खाई नहीं जाने वाली।

चीख़ निकली तो है होंठों से, मगर मद्धम है,
बंद कमरों को सुनाई नहीं जाने वाली।

तू परेशान बहुत है, तू परेशान न हो,
इन खुदाओं की खुदाई नहीं जाने वाली।

आज सड़कों पे चले आओ तो दिल बहलेगा,
चंद ग़ज़लों से तन्हाई नहीं जाने वाली।

रचनाकाल : 1975
'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

खँडहर बचे हुए हैं, इमारत नहीं रही,
अच्छा हुआ कि सर पे कोई छत नहीं रही।

कैसी मशालें लेके चले तीरगी में आप,
जो रोशनी थी वो भी सलामत नहीं रही।

हमने तमाम उम्र अकेले सफर किया,
हम पर किसी खुदा की इनायत नहीं रही।

मेरे चमन में कोई नशेमन नहीं रहा,
या यूँ कहो कि बर्क़ की दहशत नहीं रही।

हमको पता नहीं था हमें अब पता चला,
इस मुल्क में हमारी हुकूमत नहीं रही।

कुछ दोस्तों से वैसे मरासिम नहीं रहे,
कुछ दुश्मनों से वैसी अदावत नहीं रही।
हिम्मत से सच कहो तो बुरा मानते हैं लोग,
रो-रो के बात कहने की आदत नहीं रही।

सीने में ज़िंदगी के अलामात हैं अभी,
गो ज़िंदगी की कोई ज़रूरत नहीं रही।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

परिंदे अब भी पर तोले हुए हैं,
हवा में सनसनी घोले हुए हैं।

तुम्हीं कमज़ोर पड़ते जा रहे हो,
तुम्हारे ख़्वाब तो शोले हुए हैं।

गज़ब है सच को सच कहते नहीं वो,
कुरानो-उपनिषद खोले हुए हैं।

मज़ारों से दुआएँ माँगते हो,
अकीदे किस क़दर पोले हुए हैं।

हमारे हाथ तो काटे गए थे,
हमारे पाँव भी छोले हुए हैं।

कभी कश्ती, कभी बतख, कभी जल,
सियासत के कई चोले हुए हैं।

हमारा क़द सिमटकर घिंट गया है,
हमारे पैरहन झोले हुए हैं।

चढ़ाता फिर रहा हूँ जो चढ़ावे,
तुम्हारे नाम पर बोले हुए हैं।

रचनाकाल : 1975

अपाहिज व्यथा को वहन कर रहा हूँ,
तुम्हारी कहन थी, कहन कर रहा हूँ।

ये दरवाज़ा खोलो तो खुलता नहीं है,
इसे तोड़ने का जतन कर रहा हूँ।

अँधेरे में कुछ ज़िंदगी होम कर दी,
उजाले में अब ये हवन कर रहा हूँ।

वे संबंध अब तक बहस में टँगे हैं,
जिन्हें रात-दिन स्मरण कर रहा हूँ।

तुम्हारी थकन ने मुझे तोड़ डाला,
तुम्हें क्या पता क्या सहन कर रहा हूँ।

मैं अहसास तक भर गया हूँ लबालब,
तेरे आँसुओं को नमन कर रहा हूँ।

समालोचकों की दुआ है कि मैं फिर,
सही शाम से आचमन कर रहा हूँ।

रचनाकाल : 1975

भूख है तो सब्र कर, रोटी नहीं तो क्या हुआ,
आजकल दिल्ली में है ज़ेरे बहस ये मुद्दआ।

मौत ने तो धर दबोचा एक चीते की तरह,
ज़िंदगी ने जब छुआ तब फ़ासला रखकर छुआ।

गिड़गिड़ाने का यहाँ कोई असर होता नहीं,
पेट भरकर गालियाँ दो, आह भरकर बद्दुआ।

क्या वजह है प्यास ज़्यादा तेज़ लगती है यहाँ,
लोग कहते हैं कि पहले इस जगह पर था कुआँ।

आप दस्ताने पहनकर छू रहे हैं आग को,
आपके भी खून का रंग हो गया है साँवला।

इस अँगीठी तक गली से कुछ हवा आने तो दो,
जब तलक खिलते नहीं, ये कोयले देंगे धुआँ।

दोस्त, अपने मुल्क की क़िस्मत पे रंजीदा न हो,
उनके हाथों में है पिंजरा, उनके पिंजरे में सुआ।

इस शहर में वो कोई बारात हो या वारदात,
अब किसी भी बात पर खुलती नहीं हैं खिड़कियाँ।

'कल्पना', मार्च, 1975 में प्रकाशित

फिर धीरे-धीरे यहाँ का मौसम बदलने लगा है,
वातावरण सो रहा था अब आँख मलने लगा है।

पिछले सफर की न पूछो, टूटा हुआ एक रथ है,
जो रुक गया था कहीं पर, फिर साथ चलने लगा है।

हमको पता भी नहीं था, वो आग ठंडी पड़ी थी,
जिस आग पर आज पानी सहसा उबलने लगा है।

जो आदमी मर चुके थे, मौजूद हैं इस सभा में,
हर एक सच कल्पना से आगे निकलने लगा है।

ये घोषणा हो चुकी है, मेला लगेगा यहाँ पर,
हर आदमी घर पहुँचकर कपड़े बदलने लगा है।

बातें बहुत हो रही हैं, मेरे-तुम्हारे विषय में,
जो रास्ते में खड़ा था पर्वत पिघलने लगा है।

रचनाकाल 1975

कहीं पे धूप की चादर बिछा के बैठ गए,
कहीं पे शाम सिरहाने लगा के बैठ गए।

जले जो रेत में तलुवे तो हमने ये देखा,
बहुत-से लोग वहीं छटपटा के बैठ गए।

खड़े हुए थे अलावों की आँच लेने को,
सब अपनी-अपनी हथेली जला के बैठ गए।

दुकानदार तो मेले में लुट गए यारो!
तमाशबीन दुकानें लगा के बैठ गए।

लहूलुहान नज़रों का ज़िक्र आया तो,
शरीफ़ लोग उठे दूर जा के बैठ गए।

ये सोचकर कि दरख़्तों में छाँव होती है,
यहाँ बबूल के साये में आ के बैठ गए।

रचनाकाल : 1975

घंटियों की गूँज कानों तक पहुँचती है,
इक नदी जैसे दहानों तक पहुँचती है।

अब इसे क्या नाम दें, ये बेल देखो तो,
कल उगी थी, आज शानों तक पहुँचती है।

खिड़कियाँ, नाचीज़ गलियों से मुखातिब हैं,
अब लपट शायद मकानों तक पहुँचती है।

आशियाने को सजाओ तो समझ लेना,
बर्क़ कैसे आशियानों तक पहुँचती है।

तुम हमेशा बदहवासी में गुज़रते हो,
बात अपनों से बिरानों तक पहुँचती है।

सिर्फ़ आँखें ही बची हैं चंद चेहरों में,
बेजुबाँ सूरत, जुबानों तक पहुँचती है।

अब मुअज़्ज़न की सदाएँ कौन सुनता है,
चीख़-चिल्लाहट अज़ानों तक पहुँचती है।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

नज़र-नवाज़ नज़ारा बदल न जाए कहीं
ज़रा सी बात है मुँह से निकल न जाए कहीं।

वो देखते हैं तो लगता है नींव हिलती है,
मेरे बयान को बंदिश निगल न जाए कहीं।

यों मुझको खुद पे बहुत ऐतबार है लेकिन,
ये बर्फ़ आँच के आगे पिघल न जाए कहीं।

चले हवा तो किवाड़ों को बंद कर लेना,
ये गर्म राख शरारों में ढल न जाए कहीं।

तमाम रात तेरे मैकदे में मय पी है,
तमाम उम्र नशे में निकल न जाए कहीं।

कभी मचान पे चढ़ने की आरज़ू उभरी,
कभी ये डर कि ये सीढ़ी फिसल न जाए कहीं।

ये लोग होमो-हवन में यक़ीन रखते हैं,
चलो यहाँ से चलें, हाथ जल न जाए कहीं।

'कल्पना', मार्च, 1975 में प्रकाशित

तूने ये हरसिंगार हिलाकर बुरा किया
पाँवों की सब ज़मीन को फूलों से ढँक दिया।

किससे कहें कि छत की मुँडेरों से गिर पड़े,
हमने ही खुद पतंग उड़ाई थी शौक़िया।

अब सबसे पूछता हूँ बताओ तो कौन था,
वो बदनसीब शख़्स जो मेरी जगह जिया।

मुँह को हथेलियों में छिपाने की बात है,
हमने किसी अंगार को होंठों से छू लिया।

घर से चले तो राह में आकर ठिठक गए,
पूरी हुई रदीफ़ अधूरा है काफ़िया।

मैं भी तो अपनी बात लिखूँ अपने हाथ से,
मेरे सफ़े पे छोड़ दे थोड़ा-सा हाशिया।

इस दिल की बात कर तो सभी दर्द मत उँडेल
अब लोग टोकते हैं ग़ज़ल है कि मर्सिया।

मत कहो, आकाश में कुहरा बना है,
यह किसी की व्यक्तिगत आलोचना है।

सूर्य हमने भी नहीं देखा सुबह से,
क्या करोगे, सूर्य का क्या देखना है।

इस सड़क पर इस कदर कीचड़ बिछी है,
हर किसी का पाँव घुटनों तक सना है।

पक्ष औ' प्रतिपक्ष संसद में मुखर हैं,
बात इतनी है कि कोई पुल बना है।

रक्त वर्षों से नसों में खौलता है,
आप कहते हैं क्षणिक उत्तेजना है।

हो गई हर घाट पर पूरी व्यवस्था,
शौक से डूबे जिसे भी डूबना है।

दोस्तो! अब मंच पर सुविधा नहीं है,
आजकल नेपथ्य में संभावना है।

जनवरी, 1975 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित
'कल्पना', जून, 1975 में भी प्रकाशित

चाँदनी छत पे चल रही होगी,
अब अकेली टहल रही होगी।

फिर मेरा ज़िक्र आ गया होगा,
वो बरफ़-सी पिघल रही होगी।

कल का सपना बहुत सुहाना था,
वो उदासी न कल रही होगी।

सोचता हूँ कि बंद कमरे में,
एक शमआ-सी जल रही होगी।

शहर की भीड़-भाड़ से बचकर,
तू गली से निकल रही होगी।

आज बुनियाद थरथराती है,
वो दुआ फूल-फल रही होगी।

तेरे गहनों-सी खनखनाती थी,
बाजरे की फ़सल रही होगी।

जिन हवाओं ने तुझको दुलराया,
उनमें मेरी ग़ज़ल रही होगी।

ये रोशनी है हक़ीक़त में एक छल लोगो,
कि जैसे जल में झलकता हुआ महल लोगो!

दरख़्त हैं तो परिंदे नज़र नहीं आते,
ओ मुस्तहक़ हैं वही हक़ से बेदख़ल लोगो!

वो घर में मेज़ पे कोहनी टिकाए बैठी है,
थमी हुई है वहीं उम्र आजकल लोगो!

किसी भी क़ौम की तारीख़ के उजाले में,
तुम्हारे दिन हैं किसी रात की नक़ल लोगो!

तमाम रात रहा महवे-ख़्वाब दीवाना,
किसी की नींद में पड़ता रहा खलल लोगो!

ज़रूर वो भी इसी रास्ते से गुज़रे हैं,
हर आदमी मुझे लगता है हमशक्ल लोगो!

दिखे जो पाँवों के ताज़ा निशान सहरा में,
तो याद आए हैं तालाब के कँवल लोगो!

वे कह रहे हैं ग़ज़लगो नहीं रहे शायर,
मैं सुन रहा हूँ हरेक सिम्त से ग़ज़ल लोगो!

17 नवंबर, 1974 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित

हो गई है पीर पर्वत-सी पिघलनी चाहिए।
इस हिमालय से कोई गंगा निकलनी चाहिए।

आज यह दीवार परदों की तरह हिलने लगी,
शर्त लेकिन थी कि ये बुनियाद हिलनी चाहिए।

हर सड़क पर, हर गली में, हर नगर, हर गाँव में,
हाथ लहराते हुए हर लाश चलनी चाहिए।

सिर्फ़ हंगामा खड़ा करना मेरा मकसद नहीं,
मेरी कोशिश है कि ये सूरत बदलनी चाहिए।

मेरे सीने में नहीं तो तेरे सीने में सही,
हो कहीं भी आग, लेकिन आग जलनी चाहिए।

अप्रैल, 1975

आज सड़कों पर लिखे हैं सैकड़ों नारे न देख,
घर अँधेरा देख तू, आकाश के तारे न देख।

एक दरिया है यहाँ पर दूर तक फैला हुआ,
आज अपने बाजुओं को देख, पतवारें न देख।

अब यक़ीनन ठोस है धरती हक़ीक़त की तरह,
यह हक़ीक़त देख लेकिन ख़ौफ़ के मारे न देख।

वे सहारे भी नहीं अब, जंग लड़नी है तुझे,
कट चुके जो हाथ, उन हाथों में तलवारें न देख।

दिल को बहला ले, इजाज़त है, मगर इतना न उड़,
रोज़ सपने देख, लेकिन इस क़दर प्यारे न देख।

ये धुँधलका है नज़र का, तू महज़ मायूस है,
रोजनों को देख, दीवारों में दीवारें न देख।

राख, कितनी राख है चारों तरफ़ बिखरी हुई,
राख में चिनगारियाँ ही देख, अंगारे न देख।

मरना लगा रहेगा यहाँ जी तो लीजिए,
ऐसा भी क्या परहेज, ज़रा-सी तो लीजिए।

अब रिन्द बच रहे हैं ज़रा तेज़ रक्स हो,
महफ़िल से उठ लिए हैं नमाज़ी तो लीजिए।

पत्तों से चाहते हो बजें साज़ की तरह,
पेड़ों से आप पहले उदासी तो लीजिए।

खामोश रह के तुमने हमारे सवाल पर,
कर दी है शहर भर में मनादी तो लीजिए।

ये रोशनी का दर्द, ये सिहरन, ये आरज़ू,
ये चीज़ ज़िंदगी में नहीं थी तो लीजिए।

फिरता है कैसे-कैसे खयालों के साथ वो,
उस आदमी की जामातलाशी तो लीजिए।

'कल्पना', जून, 1975 के अंक में प्रकाशित

पुराने पड़ गए डर, फेंक दो तुम भी,
ये कचरा आज बाहर फेंक दो तुम भी।

लपट आने लगी है अब हवाओं में,
ओसारे और छप्पर फेंक दो तुम भी।

यहाँ मासूम सपने जी नहीं पाते,
इन्हें कुंकुम लगाकर फेंक दो तुम भी।

तुम्हें भी इस बहाने याद कर लेंगे।
इधर दो-चार पत्थर फेंक दो तुम भी।

ये मूरत बोल सकती है अगर चाहो,
अगर कुछ शब्द, कुछ स्वर फेंक दो तुम भी।

किसी संवेदना के काम आएँगे,
यहाँ टूटे हुए पर फेंक दो तुम भी।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

इस रास्ते के नाम लिखो एक शाम और,
या इसमें रोशनी का करो इंतज़ाम और।

आँधी में सिर्फ़ हम ही उखड़कर नहीं गिरे,
हम से जुड़ा हुआ था कोई एक नाम और।

मरघट में भीड़ है या मज़ारों पे भीड़ है,
अब गुल खिला रहा है तुम्हारा निज़ाम और।

घुटनों पे रख के हाथ खड़े थे नमाज़ में,
आ-जा रहे थे लोग ज़ेहन में तमाम और।

हमने भी पहली बार चखी तो बुरी लगी
कड़वी तुम्हें लगेगी मगर एक जाम और।

हैराँ थे अपने अक्स पे घर के तमाम लोग,
शीशा चटख गया तो हुआ एक काम और।

उनका कहीं जहाँ में ठिकाना नहीं रहा,
हमको तो मिल गया है अदब में मुकाम और।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

मेरे गीत तुम्हारे पास सहारा पाने आएँगे,
मेरे बाद तुम्हें ये मेरी याद दिलाने आएँगे।

हौले-हौले पाँव हिलाओ, जल सोया है छेड़ो मत,
हम सब अपने-अपने दीपक यहीं सिराने आएँगे।

थोड़ी आँच बची रहने दो, थोड़ा धुआँ निकलने दो,
कल देखोगी कई मुसाफिर इसी बहाने आएँगे।

उनको क्या मालूम विरूपित इस सिकता पर क्या बीती,
वे आए तो यहाँ शंख-सीपियाँ उठाने आएँगे।

रह-रह आँखों में चुभती है पथ की निर्जन दोपहरी,
आगे और बढ़ें तो शायद दृश्य सुहाने आएँगे।

मेले में भटके होते तो कोई घर पहुँचा जाता,
हम घर में भटके हैं, कैसे ठौर-ठिकाने आएँगे।

हम क्या बोलें इस आँधी में कई घरौंदे टूट गए,
इन असफल निर्मितियों के शव कल पहचान जाएँगे।

रचनाकाल : 1972/यह ग़ज़ल कुल नौ शेरों की 'जलते हुए वन का वसंत' में भी छपी है।

आज वीरान अपना घर देखा,
तो कई बार झाँककर देखा।

पाँव टूटे हुए नज़र आए,
एक ठहरा हुआ सफ़र देखा।

होश में आ गए कई सपने,
आज हमने वो खँडहर देखा।

रास्ता काटकर गई बिल्ली,
प्यार से रास्ता अगर देखा।

नालियों में हयात देखी है,
गालियों में बड़ा असर देखा।

उस परिंदे को चोट आई तो,
आपने एक-एक पर देखा।

हम खड़े थे कि ये ज़मीं होगी,
चल पड़ी तो इधर-उधर देखा।

वो निगाहें सलीब हैं,
हम बहुत बदनसीब है।

आइए आँख मूँद लें,
ये नज़ारे अजीब हैं।

ज़िंदगी एक खेत है,
और साँसें जरीब हैं।

सिलसिले ख़त्म हो गए,
यार अब भी रक़ीब हैं।

हम कहीं के नहीं रहे,
घाट औ' घर क़रीब हैं।

आपने लौ छुई नहीं,
आप कैसे अदीब हैं।

उफ़ नहीं की उजड़ गए,
लोग सचमुच ग़रीब हैं।

'कल्पना', मार्च, 1975 में प्रकाशित

बाएँ से उड़के दाईं दिशा को गरुड़ गया,
कैसा शकुन हुआ है कि बरगद उखड़ गया।

इन खँडहरों में होंगी तेरी सिसकियाँ ज़रूर,
इन खँडहरों की ओर सफ़र आप मुड़ गया।

बच्चे छलाँग मार के आगे निकल गए,
रेले में फँस के बाप बिचारा बिछुड़ गया।

दुःख को बहुत सहेज के रखना पड़ा हमें,
सुख तो किसी कपूर की टिकिया-सा उड़ गया।

लेकर उमंग संग चले थे हँसी-खुशी,
पहुँचे नदी के घाट तो मेला उजड़ गया।

जिन आँसुओं का सीधा तआल्लुक था पेट से,
उन आँसुओं के साथ तेरा नाम जुड़ गया।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

अफ़वाह है या सच है ये कोई नहीं बोला,
मैंने भी सुना है अब जाएगा तेरा डोला।

इन राहों के पत्थर भी मानूस थे पाँवों से,
पर मैंने पुकारा तो कोई भी नहीं बोला।

लगता है, ख़ुदाई में कुछ तेरा दख़ल भी है,
इस शाम फ़िज़ाओं ने वो रंग नहीं घोला।

आख़िर तो अँधेरे की जागीर नहीं हूँ मैं,
इस राख में पिन्हा है अब तक भी वही शोला।

सोचा कि तू सोचेगी, तूने किसी शायर की,
दस्तक तो सुनी थी पर दरवाज़ा नहीं खोला।

अगर ख़ुदा न करे सच ये ख़्वाब हो जाए,
तेरी सहर हो मेरा आफ़ताब हो जाए।

हुज़ूर आरिज़ो-रुख़सार क्या तमाम बदन,
मेरी सुनो तो मुजस्सिम गुलाब हो जाए।

उठा के फेंक दो खिड़की से साग़रो-मीना,
ये तिश्नगी जो तुम्हें दस्तयाब हो जाए।

वो बात कितनी भली है जो आप करते हैं,
सुनी तो सीने की धड़कन रबाब हो जाए।

बहुत क़रीब न आओ यक़ीं नहीं होगा,
ये आरज़ू भी अगर कामयाब हो जाए।

ग़लत कहूँ तो मेरी आक़बत बिगड़ती है,
जो सच कहूँ तो ख़ुदी बेनक़ाब हो जाए।

ज़िंदगानी का कोई मकसद नहीं है,
एक भी क़द आज आदमक़द नहीं है।

राम जाने किस जगह होंगे कबूतर,
इस इमारत में कोई गुंबद नहीं है।

आपसे मिलकर हमें अकसर लगा है,
हुस्न में अब जज़्ब-ए-अमज़द नहीं है।

पेड़-पौधे हैं बहुत बौने तुम्हारे,
रास्तों में एक भी बरगद नहीं है।

मैकदे का रास्ता अब भी खुला है,
सिर्फ़ आमदरफ़्त ही जायद नहीं है।

इस चमन को देखकर किसने कहा था,
एक पंछी भी यहाँ शायद नहीं है।

ये सच है कि पाँवों ने बहुत कष्ट उठाए,
पर पाँव किसी तरह से राहों पे तो आए।

हाथों में अंगारों को लिए सोच रहा था,
कोई मुझे अंगारों की तासीर बताए।

जैसे किसी बच्चे को खिलौने न मिले हों,
फिरता हूँ कई यादों को सीने से लगाए।

चट्टानों से पाँवों को बचाकर नहीं चलते,
सहमे हुए पाँवों से लिपट जाते हैं साये।

यों पहले भी अपना-सा यहाँ कुछ तो नहीं था,
अब और नज़ारे हमें लगते हैं पराए।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

बाढ़ की संभावनाएँ सामने हैं,
और नदियों कि किनारे घर बने हैं।

चीड़-वन में आँधियों की बात मत कर,
इन दरख़्तों के बहुत नाजुक तने हैं।

इस तरह टूटे हुए चेहरे नहीं हैं,
जिस तरह टूटे हुए ये आईने हैं।

आपके क़ालीन देखेंगे किसी दिन,
इस समय तो पाँव कीचड़ में सने हैं।

जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में,
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं।

अब तड़पती-सी ग़ज़ल कोई सुनाए,
हमसफ़र ऊँघे हुए हैं, अनमने हैं।

जनवरी, 1975 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित
18 मई, 1975 को 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में भी प्रकाशित

ये ज़ुबाँ हमसे सी नहीं जाती,
ज़िंदगी है कि जी नहीं जाती।

इन सफ़ीलों में वो दरारें हैं,
जिनमें बसकर नमी नहीं जाती।

देखिए इस तरफ़ उजाला है,
जिस तरफ़ रोशनी नहीं जाती।

शाम कुछ पेड़ गिर गए वरना,
बाम तक चाँदनी नहीं जाती।

एक आदत-सी बन गई है तू,
और आदत कभी नहीं जाती।

मैकशो! मय ज़रूर है लेकिन,
इतनी कड़वी कि पी नहीं जाती।

मुझको ईसा बना दिया तुमने,
अब शिकायत भी की नहीं जाती।

तुमको निहारता हूँ सुबह से ऋतंवरा,
अब शाम हो रही है मगर मन नहीं भरा।

ख़रगोश बन के दौड़ रहे हैं तमाम ख़्वाब,
फिरता है चाँदनी में कोई सच डरा-डरा।

पौधे झुलस गए हैं मगर एक बात है,
मेरी नज़र में अब भी चमन है हरा-हरा।

लंबी सुरंग-सी है तेरी ज़िंदगी तो बोल,
मैं जिस जगह खड़ा हूँ वहाँ है कोई सिरा।

माथे पे रखके हाथ बहुत सोचते हो तुम,
गंगा कसम बताओ हमें क्या है माजरा।

रोज़ जब रात को बारह का गजर होता है,
यातनाओं के अँधेरे में सफर होता है।

कोई रहने की जगह है मेरे सपनों के लिए,
वो घरौंदा सही, मिट्टी का भी घर होता है।

सिर से सीने में कभी, पेट से पाँवों में कभी,
एक जगह हो तो कहें दर्द इधर होता है।

ऐसा लगता है कि उड़कर भी कहाँ पहुँचेंगे,
हाथ में जब कोई टूटा हुआ पर होता है।

सैर के वास्ते सड़कों पे निकल आते थे,
अब तो आकाश से पथराव का डर होता है।

हालाते जिस्म, सूरते जाँ, और भी ख़राब,
चारों तरफ़ ख़राब, यहाँ और भी ख़राब।

नज़रों में आ रहे हैं नज़ारे बहुत बुरे,
होंठों में आ रही हैं ज़ुबाँ और भी ख़राब।

पाबंद हो रही है रवायत से रोशनी,
चिमनी में घुट रहा है धुआँ और भी ख़राब।

मूरत सँवारने में बिगड़ती चली गई,
पहले से हो गया है जहाँ और भी ख़राब।

रौशन हुए चिराग़ तो आँखें नहीं रहीं,
अंधों को रोशनी का गुमाँ और भी ख़राब।

आगे निकल गए हैं घिसटते हुए क़दम,
राहों में रह गए हैं निशाँ और भी ख़राब।

सोचा था उनके देश में महँगी है ज़िंदगी,
पर ज़िंदगी का भाव वहाँ और भी ख़राब।

'कादम्बिनी' के मई, 1975 अंक में प्रकाशित

ये जो शहतीर है पलकों पे उठा लो यारो!
अब कोई ऐसा तरीक़ा भी निकालो यारो!

दर्देदिल वक़्त को पैग़ाम भी पहुँचाएगा,
इस कबूतर को ज़रा प्यार से पालो यारो!

लोग हाथों में लिए बैठे हैं अपने पिंजरे,
आज सय्याद को महफ़िल में बुला लो यारो!

आज सीवन को उधेड़ो तो ज़रा देखेंगे,
आज संदूक से वे ख़त तो निकालो यारो!

रहनुमाओं की अदाओं पे फ़िदा है दुनिया,
इस बहकती हुई दुनिया को सँभालो यारो!

कैसे आकाश में सूराख नहीं हो सकता,
एक पत्थर तो तबीयत से उछालो यारो!

लोग कहते थे कि ये बात नहीं कहने की,
तुमने कह दी है तो कहने की सज़ा लो यारो!

धूप ये अठखेलियाँ हर रोज़ करती है,
एक छाया सीढ़ियाँ चढ़ती-उतरती है।

ये दीया चौरास्ते का ओट में ले लो,
आज आँधी गाँव से होकर गुज़रती है।

कुछ बहुत गहरी दरारें पड़ गईं मन में,
मीत अब ये मन नहीं है एक धरती है।

कौन शासन से कहेगा, कौन समझेगा,
एक चिड़िया इन धमाकों से सिहरती है।

मैं तुम्हें छूकर ज़रा-सा छेड़ देता हूँ
और गीली पाँखुरी से ओस झरती है।

तुम कहीं पर झील हो, मैं एक नौका हूँ,
इस तरह की कल्पना मन में उभरती है।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

पक गई हैं आदतें, बातों से सर होंगी नहीं,
कोई हंगामा करो, ऐसे गुज़र होगी नहीं।

इन ठिठुरती उँगलियों को इस लपट पर सेंक लो,
धूप अब घर की किसी दीवार पर होगी नहीं।

बूँद टपकी थी मगर वो बूँदो-बारिश और है,
ऐसी बारिश की कभी उनको ख़बर होगी नहीं।

आज मेरा साथ दो, वैसे मुझे मालूम है,
पत्थरों में चीख़ हरगिज़ कारगर होगी नहीं।

आपके टुकड़ों के टुकड़े कर दिए जाएँगे पर,
आपकी ताज़िम में कोई कसर होगी नहीं।

सिर्फ़ शायर देखता है क़हक़हों की असलियत,
हर किसी के पास तो ऐसी नज़र होगी नहीं।

'कलपना', जून, 1975 में प्रकाशित

एक कबूतर चिट्ठी लेकर पहली-पहली बार उड़ा,
मौसम एक गुलेल लिए था पट से नीचे आन गिरा।

बंजर धरती, झुलसे पौधे, बिखरे काँटे, तेज़ हवा,
हमने घर बैठे-बैठे ही सारा मंज़र देख लिया।

चट्टानों पर खड़ा हुआ तो छाप रह गई पाँवों की,
सोचो कितना बोझ उठाकर मैं इन राहों से गुज़रा।

सहने को हो गया इकट्ठा इतना सारा दुःख मन में,
कहने को हो गया कि देखो अब मैं तुमको भूल गया।

धीरे-धीरे भीग रही हैं सारी ईंटें पानी में,
इनको क्या मालूम कि आगे चलकर इनका क्या होगा।

ये धुएँ का एक घेरा कि मैं जिसमें रह रहा हूँ,
मुझे किस कदर नया है, मैं जो दर्द सह रहा हूँ।

ये ज़मीन तप रही थी, ये मकान तप रहे थे,
तेरा इंतज़ार था जो मैं इसी जगह रहा हूँ।

मैं ठिठक गया था लेकिन तेरे साथ-साथ था मैं,
तू अगर नदी हुई तो मैं तेरी सतह रहा हूँ।

सर पे धूप आई तो दरख़्त बन गया मैं,
तेरी ज़िंदगी में अकसर मैं कोई वजह रहा हूँ।

कभी दिल में आरज़ू-सा, कभी मुँह में बद्दुआ-सा,
मुझे जिस तरह भी चाहा, मैं उसी तरह रहा हूँ।

मेरे दिल पे हाथ रक्खो, मेरी बेबसी को समझो,
मैं इधर से बन रहा हूँ, मैं इधर से ढह रहा हूँ।

यहाँ कौन देखता है, यहाँ कौन सोचता है।
कि ये बात क्या हुई है जो मैं शे'र कह रहा हूँ।

1956 की डायरी में लिखी ग़ज़ल। शायर ने इसका शीर्षक अंग्रेज़ी में Frustration दिया है।
'कादम्बिनी' के मई, 1975 अंक में प्रकाशित

तुमने इस तालाब में रोहू पकड़ने के लिए,
छोटी-छोटी मछलियाँ चारा बनाकर फेंक दीं।

हम ही खा लेते सुबह को भूख लगती है बहुत,
तुमने बासी रोटियाँ नाहक उठाकर फेंक दीं।

जाने कैसी उँगलियाँ हैं जाने क्या अंदाज़ है,
तुमने पत्तों को छुआ था जड़ हिलाकर फेंक दीं।

इस अहाते के अँधेरे में धुआँ-सा भर गया,
तुमने जलती लकड़ियाँ शायद बुझाकर फेंक दीं।

लफ़्ज़ एहसास-से छाने लगे, ये तो हद है,
लफ़्ज़ माने भी छुपाने लगे, ये तो हद है।

आज दीवार गिराने के लिए आए थे,
आप दीवार उठाने लगे, ये तो हद है।

ख़ामोशी शोर से सुनते थे कि घबराती है,
ख़ामोशी शोर मचाने लगे, ये तो हद है।

आदमी होंठ चबाए तो समझ आता है,
आदमी छाल चबाने लगे, ये तो हद है।

जिस्म पहरावों में छिप जाते थे, पहरावों में—
जिस्म नंगे नज़र आने लगे, ये तो हद है।

लोग तहज़ीबों-तमद्दुन के सलीक़े सीखे,
लोग रोते हुए गाने लगे, ये तो हद है।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

ये शफ़क़, शाम हो रही है अब,
और हर गाम हो रही है अब।

जिस तबाही से लोग बचते थे,
वो सरेआम हो रही है अब।

अज़मते मुल्क़ इस सियासत के,
हाथ नीलाम हो रही है अब।

शब ग़नीमत थी, लोग कहते हैं,
सुब्ह बदनाम हो रही है अब।

जो किरन थी किसी दरीचे की,
मरकजे बाम हो रही है अब।

तिश्ना-लब तेरी फुसफुसाहट भी,
एक पैग़ाम हो रही है अब।

एक गुड़िया की कई कठपुतलियों में जान है,
आज शायर, ये तमाशा देखकर हैरान है।

ख़ास सड़कें बंद हैं तब से मरम्मत के लिए,
ये हमारे वक़्त की सबसे सही पहचान है।

एक बूढ़ा आदमी है मुल्क़ में या यों कहो—
इस अँधेरी कोठरी में एक रोशनदान है।

मस्लहत आमेज़ होते हैं सियासत के क़दम,
तू न समझेगा सियासत तू अभी इनसान है।

इस क़दर पाबंदी-ए-मज़हब कि सदक़े आपके,
जब से आज़ादी मिली है मुल्क़ में रमज़ान है।

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए,
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिंदुस्तान है।

मुझमें रहते हैं करोड़ों लोग चुप कैसे रहूँ,
हर ग़ज़ल अब सल्तनत के नाम एक बयान है।

5 मार्च, 1975

बहुत सँभाल के रखी तो पाएमाल हुई,
सड़क पे फेंक दी तो ज़िंदगी निहाल हुई।

बड़ा लगाव है इस मोड़ से निगाहों को,
कि सबसे पहले यहीं रोशनी हलाल हुई।

कोई निजात की सूरत नहीं रही, न सही,
मगर निजात की कोशिश तो एक मिसाल हुई।

मेरे ज़ेहन पे ज़माने का वो दबाव पड़ा,
जो एक स्लेट थी वो ज़िंदगी, सवाल हुई।

समुद्र और उठा, और उठा, और उठा,
किसी के वास्ते ये चाँदनी बवाल हुई।

उन्हें पता भी नहीं है कि उनके पाँवों से,
वो ख़ूँ बहा है कि ये ग़र्द भी गुलाल हुई।

मेरी ज़ुबान से निकली तो सिर्फ़ नज़्म बनी,
तुम्हारे हाथ में आई तो एक मशाल हुई।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

वो आदमी नहीं है मुकम्मल बयान है,
माथे पे उसके चोट का गहरा निशान है।

वे कर रहे हैं इश्क़ पे संजीदा गुफ़्तगू,
मैं क्या बताऊँ मेरा कहीं और ध्यान है।

सामान कुछ नहीं है फटेहाल है मगर,
झोले में उसके पास कोई संविधान है।

उस सिरफिरे को यों नहीं बहला सकेंगे आप,
वो आदमी नया है मगर सावधान है।

फिसले जो इस जगह तो लुढ़कते चले गए,
हमको पता नहीं था कि इतना ढलान है।

देखे हैं हमने दौर कई अब ख़बर नहीं,
पाँवों तले ज़मीन है या आसमान है।

वो आदमी मिला था मुझे उसकी बात से
ऐसा लगा कि वो भी बहुत बेज़ुबान है।

किसी को क्या पता था इस अदा पर मर-मिटेंगे हम,
किसी का हाथ उठा और अलकों तक चला आया।

वो बरगश्ता थे कुछ हमसे उन्हें क्योंकर यक़ीं आता,
चलो अच्छा हुआ, एहसास पलकों तक चला आया।

जो हमको ढूँढ़ने निकला तो फिर वापस नहीं लौटा,
तसव्वुर ऐसे ग़ैर-आबाद हलक़ों तक चला आया।

लगन ऐसी खरी थी तीरगी आड़े नहीं आई,
ये सपना सुब्ह के हलके धुँधलकों तक चला आया।

मैं जिसे ओढ़ता-बिछाता हूँ,
वो ग़ज़ल आपको सुनाता हूँ।

एक जंगल है तेरी आँखों में,
मैं जहाँ राह भूल जाता हूँ।

तू किसी रेल-सी गुज़रती है,
मैं किसी पुल-सा थरथराता हूँ।

हर तरफ़ एतराज़ होता है,
मैं अगर रोशनी में आता हूँ।

एक बाज़ू उखड़ गया जब से,
और ज़्यादा वज़न उठाता हूँ।

मैं तुझे भूलने की कोशिश में,
आज कितने क़रीब पाता हूँ।

कौन ये फ़ासला निभाएगा,
मैं फ़रिश्ता हूँ सच बताता हूँ।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

अब किसी को भी नज़र आती नहीं कोई दरार,
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तहार।

आप बचकर चल सकें ऐसी कोई सूरत नहीं,
रहगुज़र घेरे हुए मुरदे खड़े हैं बेशुमार।

रोज़ अख़बारों में पढ़कर ये ख़याल आया हमें,
इस तरफ़ आती तो हम भी देखते फ़स्ले-बहार।

मैं बहुत कुछ सोचता रहता हूँ पर कहता नहीं,
बोलना भी है मना, सच बोलना तो दरकिनार।

इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके जुर्म हैं,
आदमी या तो ज़मानत पर रिहा है या फ़रार।

हालते इनसान पर बरहम न हों अहले-वतन,
वो कहीं से ज़िंदगी भी माँग लाएँगे उधार।

रौनक़े जन्नत ज़रा भी मुझको रास आई नहीं,
मैं जहन्नुम में बहुत ख़ुश था मेरे परवरदिगार।

दस्तकों का अब किवाड़ों पर असर होगा ज़रूर,
हर हथेली ख़ून से तर और ज़्यादा बेकरार।

26 जनवरी, 1975 के 'धर्मयुग' में प्रकाशित

तुम्हारे पाँवों के नीचे कोई ज़मीन नहीं,
कमाल ये है कि फिर भी तुम्हें यक़ीन नहीं।

मैं बेपनाह अँधेरों को सुबह कैसे कहूँ,
मैं इन नज़ारों का अंधा तमाशबीन नहीं।

तेरी ज़ुबान है झूठी जम्हूरियत की तरह,
तू एक ज़लील-सी गाली से बेहतरीन नहीं।

तुम्हीं से प्यार जताएँ तुम्हीं को खा जाएँ,
अदीब यों तो सियासी हैं पर कमीन नहीं।

तुझे क़सम है ख़ुदी को बहुत हलाक न कर,
तू इस मशीन का पुर्ज़ा है, तू मशीन नहीं।

बहुत मशहूर है आएँ ज़रूर आप यहाँ,
ये मुल्क़ देखने के लायक़ तो है, हसीन नहीं।

ज़रा-सा तौर-तरीक़ों में हेर-फेर करो,
तुम्हारे हाथ में कॉलर हो, आस्तीन नहीं।

'कल्पना', जून, 1975 में प्रकाशित

पत्र

जैसा कि दुष्यन्त का मस्तमौला किंतु आवेगाकुल स्वभाव था, पत्र भी उसी स्वभाव में तरह-तरह से लिखे गए हैं। कभी-कभी तो वे सीधे-सीधे कविता में ही लिखे गए हैं। शुरुआती जीवन में ये पत्र प्रायः मिल जाते हैं। बाद के जीवन में इस तरह के पत्र प्रायः नहीं लिखे गए हैं और जहाँ लिखे भी गए हैं वहाँ पत्र कम, कविता ज़्यादा हैं। मसलन, प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के नाम लिखी दुष्यन्त की अति चर्चित ग़ज़ल 'कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए' में पत्र की सारी मंशा छिपी हुई है, पर है वो एक पोख्ता ग़ज़ल।

इन तमाम पत्रों में दुष्यन्त का पल-पल परिवर्तित वह मन भी दिखाई देता है जिसमें कभी बच्चों-सी सरलता, मानी व्यक्ति का स्वाभिमान, लेखक की समझदारी, आत्मविश्वास तथा परिस्थितियों से भिड़ने की जल्दबाज़ी और उनसे बचने की नेवले जैसी फुर्ती और आत्मसजगता एक साथ दिखाई देती है।

दुष्यन्त ने न जाने कितने पत्र लिखे हैं। किन-किन को लिखे हैं, पर यहाँ तो उनकी मौजूदगी बस नमूना-भर है।

—संपादक

प्रेमिका हेमलता त्यागी[1] के नाम

हृदय की रानी हेम!

निठुर नियति के हाथों बार-बार प्रताड़ित होने पर भी तुम्हारा पीछा नहीं छोड़ता—सुना, तुम्हारा विवाह तय हो गया है···यह देव-दुर्विपात ही है मेरी रानी! मेरे आँसू नहीं थमते। मेरे हृदय को तुमने कभी समझा ही नहीं; जो तृप्त होते हुए अतृप्त था, उसमें शायद अब भी पिपासा है जो आमरण शांत न हो सकेगी···तुमने तो आशाओं पर निराशा की काली चादर डाल दी। तुम्हें भी किसी शलभ को अपने जीवन-दीप की आँच से जलाने की खूब सूझी और सफल भी हुई, अतएव उस शलभ की बधाई स्वीकार करो। एक प्रार्थना है, भूलना मत उस शलभ को, जिसने अपने अरमानों की चिता में आग दी···

महरूमे तरब है, दिले दिलगीर अभी तक,
बाकी है तेरे इश्क की तासीर अभी तक!

और मेरी रानी, ये मेरी कविता लो···टूटे हुए दिल की पुकार सुन पाओ तो सुनना—

तू मेरा दुःख जान न सकती!
संभव सुख के अश्रु समझ ले,
मगर समझ दुःख गान न सकती! तू···
इस जीवन की और न आशा
लौट रहा प्यासा का प्यासा
करा मुझे विषपान जो सकती! तू···

अभागा···शिवराज

---

1. *दुष्यन्त का यह पत्र कमलेश्वर के उपन्यास 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ' से दुष्यन्त द्वारा दिए गए संदर्भ के हवाले से लिया गया है। उपन्यास में नाम शिवराज है। यह पत्र 1948-49 का है।*

संपादक के नाम

संपादक जी,

जयहिंद!

इसका शीर्षक जो आप उचित समझें, लिखिएगा। मुझे कुछ आपत्ति नहीं। वैसे तो अन्य कवियों की भाँति इसके ऊपर भी केवल 'गीत' लिखा जा सकता था। किंतु मैं कवि नहीं…कारण? यह मेरा प्रथम प्रयास है। दूसरे, अपने हृदय की वेदना को गीत लिखना स्वयं को भ्रम में डालना नहीं तो और क्या है? इस कारण ही यह मुझे कुछ अनुपयुक्त-सा जँचा! आपकी इच्छा है आगे।

भवदीय

दुष्यन्त

1948-49

कविताओं में सर्वश्रेष्ठ कविता देवी[1]

बंधुवर,

काफ़ी लंबी प्रतीक्षा के बाद 'भारती'[1] मिली, इसकी प्रगति देखकर मुझे कितना सुख हुआ, इसे आपके अनुमान नहीं कह सकते। इस अंक को देखकर मेरा विश्वास हो गया कि निकट भविष्य में ही 'भारती' हिंदी की श्रेष्ठ पत्रिकाओं में अपना एक निश्चित स्थान बना लेगी। आपके सुयोग्य हाथों में पत्रिका दिन दूनी-रात चौगुनी उन्नति करे, यही कामना है। उधर छपाई और भाँति-भाँति के चित्रों ने मेरा तो मन ही मोह लिया। आपके राशिफल अगर आप न दें तो ज़्यादा अच्छा हो, एक साहित्यिक पत्र में और बातें कुछ जँचती नहीं। और सब ठीक है। आपके सुयोग्य हाथों में पत्रिका दिन दूनी-रात चौगुनी उन्नति करेगी, यही आशा है।

दुष्यन्त कुमार 'परदेसी'
साहि॰ संपादक 'पुकार'

1948-49

---

1. *'भारती' के संपादक को लिखा गया पत्र। 1949 की डायरी से : चंदौसी*

कविता में पत्र (निजी संदर्भ)

निज वचनानुसार आया तो था
मिलने, पर नहीं मिल सके,
और परस्पर अभिवादन में
हाथ हमारे नहीं हिल सके।
आ सकता था पुनः किंतु बीमार हुई पड़ी है साइकिल,
पैदल चलने असित निशा में नहीं गवाही देता है दिल,
तुम्हें, तुम्हारी साली जी को गीत नहीं अपने सुना सका
बहुत चाह थी तुम्हें सुनाता
गीत व्यथामय गीले-गीले,
बहुत चाह थी तुम्हें दिखाता
घाव हृदय के पीले-पीले
रुक न सका पर बहुत चाहता था चंदौसी में ही रहना,
भेना जी, माता जी, साली जी से नम्र नमस्ते कहना,
क्षमा माँगता हूँ लिखने की जो आदतवश लिख-लिखा चुका
माता जी, भेना जी, साली जी, सबको प्यार।
पत्नी लिखवाती अभिवादन, इसे करो स्वीकार।
बहुत लिख चुका, यही समझ लो अब इस ख़त का अंत
चरणों में प्रणाम्, आपका शिष्य तुच्छ--दुष्यन्त

दिसंवर, '49

पत्नी को लिखा गया एक अधूरा काव्य-पत्र

ओ हाँ मैं तुमको क्या लिखने बैठा था रानी
जाने क्या-क्या लिखने की सूझ गई मुझको
जो लिख मारा
मुझको तो प्राणप्रिये ये कहना क्या तुमसे
तुम सत्वर आओ यहाँ
कि मेरा पागलपन प्रतिक्षण
प्रतिदिन आगे ही बढ़ता जाता है
नौकर मुझसे डरता है
औ' आगे-पीछे
कहता है बापू पागल होने वाले हैं
उसका अनुमान ग़लत भी कह दूँ तो कैसे
तनिक-तनिक बातों पर झुँझला जाता हूँ
घर में लेटा रहता ख़ाली टाइम में
अब कहीं घूमने का मन
करता नहीं कभी
पर कैंच कबूतर-सी है मेरी दशा करुण
मैं एकाकी
सामर्थ्यहीन
जग-तरु पर बैठा-बैठा
अपनी क़िस्मत को कोस रहा
अब रोग बिगड़ता जाता है
पछताओगी जल्दी आओ
जल्दी आओ।

इलाहाबाद के दिनों में—पत्नी को संबोधित पत्र-शैली कविता

लखनऊ रेडियो के निदेशक के नाम

दुष्यन्त कुमार त्यागी[1]

पूर्व संपादक--'पुकार'
अध्यक्ष–कॉलेज यूनियन

केदार निवास
गोलागंज, चंदौसी, उ॰प्र॰

87 पी॰ सी॰ बी॰ होस्टल
विश्वविद्यालय प्रयाग

श्रीमान महोदय!

निवेदन है, लखनऊ रेडियो स्टेशन से अपने कुछ गीत अपने मुख से पढ़ने की मेरी इच्छा है। आशा है, आप मुझे इसका एक अवसर प्रदान करेंगे। इस बात का मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं अपनी कविताएँ ख़ूब अच्छी प्रकार से गा लेता हूँ।

अपने परिचय के विषय में मुझे केवल इतना ही कहना है कि मेरी कविताएँ उत्तरी भारत के प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती हैं। शेष कृपा।

भवदीय
दुष्यन्त कुमार 'परदेसी'
इलाहाबाद

---

1. *लेटरपैड चंदौसी के दिनों का है, जिस पर प्रयाग के छात्रावास के दिनों में चिट्ठी लिखी गई है। संभवतः यह पत्र रेडियो लखनऊ के संबंधित अधिकारी को लिखा गया है। पत्र के ऊपर पूर्व संपादक, पुकार, अध्यक्ष–कॉलेज यूनियन, केदार निवास, गोलागंज, चंदौसी, उ.प्र. का परिचय और पता भी मुद्रित है। किंतु पत्र तो 87, पी. सी. बी. होस्टल विश्वविद्यालय, प्रयाग के दिनों का है। यह पत्र आकाशवाणी, लखनऊ के संबंधित अधिकारी को लिखा गया है। संभावित काल : 1951-52.*

बच्चन जी को पत्र रेडियो में नौकरी के···

आपकी सेवा में मैंने कविता-संग्रह भिजवाया था। आशा है मिल गया होगा। उत्सुकतापूर्वक आपकी सम्मति की प्रतीक्षा करूँगा। यदि समय निकाल सकें तो दो-चार पंक्तियों में उस पर आपकी सम्मति जानकर कृतार्थ होऊँगा।

एक निवेदन और! इधर हाल ही में आदरणीय पंत जी के दर्शन हुए थे। उन्होंने बताया कि रेडियो की संभावित नियुक्तियों में अन्य··के साथ शायद मेरा भी नाम है। उन्होंने ये भी बताया कि आपने उनसे मेरे विषय में कहा था–इस कृपा के लिए अत्यंत आभारी हूँ।

प्रतीक्षा में–

सादर सविनय

दुष्यन्त कुमार

यह पत्र इलाहाबाद से, रेडियो की नौकरी से पहले, संभवतः बच्चन जी को लिखा गया है। संग्रह 'सूर्य का स्वागत' है जो छप गया है। यानी 1957 के बाद या उसी वर्ष। पत्र हरी स्याही से लिखा गया है।

पत्र कवि ओम् प्रभाकर के नाम

प्रिय ओम्,

पत्र एवं विज्ञप्ति मिली। धन्यवाद।

तुम वहाँ पहुँच गए। मुझे तो बताया गया था कि शांति निकेतन या कलकत्ते की तरफ़ हो। चलो, अच्छा ही हुआ। उम्मीद है कहीं जम गए होगे।

मैंने भी इधर आकाशवाणी छोड़कर म॰प्र॰ राज्य में भाषा-विभाग में असि॰ डायरेक्टर की एक पोस्ट ले ली है।

तुम्हारी 'नवगीत' वाली योजना बुरी नहीं है, बल्कि अच्छी ही है। पर कितने ओम् प्रभाकर हैं जो नए ढंग के गीत लिखते हैं। और अगर नीरज वग़ैरा के गीतों को नवगीत कहते हो तो इस संकलन का कुछ अर्थ नहीं होता। जहाँ तक मेरी बात है, मैंने गीत लिखे अवश्य हैं, पर ईमानदारी से वे नवगीत की सीमा में नहीं आते और नीरज-त्यागी वाली परंपरा में ही आते हैं। इसलिए उन्हें भेजने का कोई मतलब नहीं होता।

हाँ, केदारनाथ सिंह, रवींद्र ठाकुर प्रसाद, रामदरश, परमानंद श्रीवास्तव, नरेश सक्सेना आदि लोगों को लिखो। इस प्रकार की कोई टिप्पणी नवगीतकारों पर बल्कि ओम् प्रभाकर जैसे गीतकारों पर चाहो तो मैं खुशी से लिखने को तैयार हूँ।

आशा है, स्वस्थ होंगे। वहाँ के और कवि-मित्रों को याद दिलाना मेरी और सलाम कहना। 'कल्पना' में मेरा काव्य-नाटक पढ़कर एक विस्तृत समीक्षात्मक टिप्पणी मुझे भेजना—Free and Frank होकर।

सस्नेह
दुष्यन्त कुमार

पता :
दुष्यन्त कुमार त्यागी
असि॰ डायरेक्टर ऑफ लैंग्वेजेज़
डिपार्टमेंट ऑफ लैंग्वेजेज़
भोपाल (म॰प्र॰)

1964-65

माफ़ करना ओम्[1]

प्रेम
आज एक बहुत बासी-सा शब्द है
माफ़ करना ओम्
मेरे लिए इस शब्द से
कोई तस्वीर नहीं बनती
चंद भोग्य जिस्मों की बू आने लगती है

विकसित संदर्भों में प्रेम
बिस्कुटों की तरह
खाया जाता है बार-बार
ये ढाई आखर
जिनको पढ़-पढ़कर पंडित हो गए होंगे लोग
सिर्फ़ टैक्सी या सिनेमाघरों में
या निर्जन उद्यानों में सुने जाते हैं
या थोड़े कवि-हृदय मंच सजा लेते हैं
यदा-कदा गा-बजा लेते हैं
मेरे लिए तो प्रेम
बुझी-सी शराब है
जिसमें नशा खोजते हैं हम पीने के लिए
या वह पिटा-सा बहाना
जिसे अब तक अपनाते हैं लोग
हीले-हवालों के साथ

---

1. मार्च, 1965 के आसपास।

किरकिरी ज़िंदगी जीने के लिए
कविताएँ अधिक और अधिक दर्द माँगती हैं
तुम तो कवि हो ओम्!
नाराज़ मत हो
बताओ तुम्हीं
प्रेम पर क्या लिखूँ
उससे अब टीस तक नहीं होती।...

1. *भाषा विभाग में रहते हुए मार्च, 1965 के आसपास संभवतः ओम् प्रभाकर को लिखा गया काव्यात्मक पत्र।*

'लहर' के संपादक की हैसियत से लिखा गया पत्र

तारीख़
25.4.64

बंधु,

ऐसा लगता है कि हिंदी में आज आलोचना का कोई स्वीकृत प्रतिमान नहीं है। फलस्वरूप जो आलोचनात्मक रचनाएँ यदा-कदा प्रकाश में आती हैं, उनके संबंध में जितने मुँह उतनी बातें सुनाई पड़ती हैं। कोई उनमें वैमनस्य देखता है तो कोई तटस्थता और निर्भीकता, कोई उन्हें निरपेक्ष मूल्यांकन कहता है तो कोई सतही विवाद और राग-द्वेष। इसका एक ताज़ा अनुभव हमें नई कहानी के अ॰ वार्षिक स्तंभ के अंतर्गत 'लहर' के अप्रैल अंक में अपने लेखों के प्रकाशन से हुआ। उक्त लेखों पर संपादक, लेखकद्वय और आलोच्य लेखक की प्रतिक्रिया निम्नानुसार है—

प्रकाश जैन

संपादक : लहर

धनंजय का लेख व्यक्तिगत कारणों और राग-द्वेष से लिखा गया है और इसके द्वारा बक्षी के समूचे लेखन को हेय सिद्ध करने का प्रयास।

***धनंजय** : क्या मुझे आलोचक के नाते ईमानदारी से अपने मित्र के बारे में साफ़-साफ़ बातें कहने का भी हक़ नहीं है।*

***दुष्यन्त** : इस या उस किसी भी लेख में व्यक्तिगत कारण या मोटिव्स (Motives) खोजना एक अनर्गल और घटिया-सी बात है, जिसके मैं पक्ष में नहीं।*

***रमेश** : ये लेख यदि किसी को या उसे भी इंटेंशनल (Intensional) लगे तो भी ये लेखक का काम नहीं है कि वह उनके पक्ष या विपक्ष में दलील देता फिरे।*

उक्त विचारों के साथ चर्चित लेखों की कतरनें भी संलग्न हैं। इस संबंध में आप जैसे विद्वानों की राय जानकर हमें प्रसन्नता होगी।

भवदीय

दुष्यन्त कुमार
धनंजय वर्मा
द्वारा—लहर
पो॰ऑ॰ बॉक्स—82
महात्मा गांधी मार्ग, अजमेर
(राजस्थान)

कवि धर्मवीर भारती के नाम एक खुला पत्र[1]

भारती जी,

'दूसरा सप्तक' और 'प्रतीक' की फाइलों से लेकर 'ठंडा लोहा' तक आपकी सब कविताएँ मैंने पढ़ी हैं। जिनमें से कुछ का मैं प्रशंसक भी हूँ। पर लगता ऐसा है कि वे अच्छी कविताएँ तुक्का हैं, तीर नहीं। जैसे कभी-कभी रेत पर आड़ी-सीधी लकीरें खींचते-खींचते बच्चे भी कोई अच्छा चित्र बना देते हैं, उसी प्रकार संभवतः आप उन्हें लिख गए। ख़ैर, तो मुझे आपसे कुछ बातें कहनी हैं–

बातें भी साफ़, बिना किसी लगाव-लिपटाव के अन्य कतिपय आलोचकों की भाँति मैं आपको प्रयोगवादी नहीं मानता··यों तो प्रयोगवाद अपने में कोई स्वतंत्र वाद नहीं, मगर क्या कविता के रूप-आकार या शैली-शिल्प के प्रति सजगता को आप इतना आवश्यक मानते हैं कि भावतत्त्व भी गौण हो जाए? क्या कविता से सामाजिक जागृति और चेतना का किसी भी रूप में आप संबंध नहीं मानते? क्या जीवन की विषमताएँ इतनी नगण्य हैं कि कवि उनकी उपेक्षा करता जाए?

---

1. यह पत्र 1954-55 में लिखा गया, पर नोटबुक में ही रहा। शायद इसका कोई अन्य प्रारूप कवि को भेजा गया हो। (सं.)

'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती को एक अधूरा पत्र[1]

संपादक जी,

अब उचित वक़्त है कि आप मुझे बैठे-ठाले स्तंभ का नियमित लेखक बना लें। इसमें फ़ायदे ही फ़ायदे हैं। सोचें तो आपकी संस्था का भी फ़ायदा है। देखिए न, फ़िलहाल आप मेरी चार पंक्तियों की कविता के बीस रुपए देते हैं, मगर चार सौ पंक्तियों का व्यंग्य छापेंगे तो ज़्यादा से ज़्यादा चालीस रुपए देंगे। वही नाम, वही लेखक, अधिक सामग्री और कम रुपए!

ज़रा-सा स्वार्थ मेरा भी है। इधर मेरे शत्रुओं की सूची बहुत लंबी हो गई है। बाज़ार में वे मुझसे निपटते हैं। सभा-सोसायटी में मेरा पीछा नहीं छोड़ते। साहित्य-क्षेत्र में तो मुझे पूछते ही नहीं। इसीलिए अब मैं उनसे निपटना चाहता हूँ। आपसे क्या छिपाना, आपके सामने पूरी योजना रखे देता हूँ।

सबसे पहले मैं एक प्रकाशक की ख़बर लूँगा। उस कमबख़्त ने मेरे ललित निबंधों का एक संग्रह पूरे दो साल तक दबाए रखा। उस पर विचारार्थ की चिप्पी लगाए रखा। मैंने छापने पर बहुत ज़ोर दिया तो उसने खेद सहित वापस कर दिया। आप समझ सकते हैं कि मैं अपने चमचों के बीच कितना शर्मिंदा हुआ हूँगा। चमचे मंत्री ही नहीं, लेखक भी रखते हैं। जैसे मंत्री अकसर फाँकते हैं, मुझे गृह विभाग दिया जा रहा था, मैंने इंकार कर दिया, उसी तरह लेखक भी फंकी लगाता है कि अमुक प्रकाशक आया था, मैंने टाल दिया। अब इसी संग्रह की बात को लें। मैंने चमचों से कह रखा था, अमुक प्रकाशक मेरे मित्र हैं। माने ही नहीं, ज़बरदस्ती संग्रह उठाकर ले गए कि हम छापेंगे। बात मुँह से निकल गई। ग़लती थी, मगर निभाना पड़ा और अब फिर मुझे सिद्धांत की पटरी⋯!

(अधूरा)

---

1. 'धर्मयुग' के संपादक धर्मवीर भारती को लिखा गया पत्र, जो न पूरा किया गया, न ही (शायद) भेजा गया। संभावित लेखनकाल : 1965-66

दुष्यन्त का पत्र चिरंजीत के नाम

दुष्यन्त कुमार त्यागी — भाषा विभाग
सहायक निदेशक — भोपाल

आदरणीय चिरंजीत भाई,

प्रणाम्!

आपका 15-4 का कृपा-पत्र मुझे मिला। यह देखकर ख़ुशी हुई कि नाटक आपको पसंद आया। इससे भी ज़्यादा ख़ुशी इस बात से हुई कि नाटक आपने बहुत ध्यान से पढ़ा है, जिसका सबूत आपने दो अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाकर दिया है–

(1) मकरध्वंस जैसी घटना को मैंने प्रत्यक्ष रूप से चित्रित क्यों नहीं किया ?

(2) वर्तमान चीनी आक्रमण की स्थिति के संदर्भ में प्रजातंत्रीय पद्धति आदि पर प्रहार करते हुए देश के वर्तमान रूप की जो झलक मिलती है, उसमें महादेव को चीनी आक्रमणकारी जैसे रूप में चित्रित करना कहाँ तक शोभनीय है?

पहले प्रश्न का उत्तर यह है कि लिखते समय मेरी दृष्टि में मंच था, रेडियो नहीं, और आप स्वीकार करेंगे कि मंच पर यज्ञ और यज्ञ-ध्वंस की घटनाएँ दिखाना बहुत हद तक असंभव कार्य है जो निर्देशक के लिए सिरदर्द हो जाता है। मगर मैं इस प्रश्न को उड़ा नहीं रहा हूँ। यह बात स्वयं मुझे भी कौंचती रही है, और अगर आप जैसे नाट्य-पारखी बंधुओं से इस संबंध में कुछ व्यावहारिक सुझाव मिले तो आश्चर्य नहीं कि बहुत जल्द मैं इस घटना से एक स्वतंत्र अंक दे दूँ।

आपका दूसरा प्रश्न बहुत महत्त्वपूर्ण है। मैं स्वीकार नहीं करता, किंतु मैं अस्वीकार भी नहीं करता कि नाटक में चीनी आक्रमण के समय के भारत की झलक मिलती है। यदि संकटकाल में भारतीय नेताओं की सत्यधर्म की टेक, जनता का आक्रोश, प्रजातंत्र की दुर्बलता आदि प्रसंग परोक्षतः उठ आए हैं तो यह मेरा अचेतन प्रयास है और मैं इसके लिए (अब) प्रसन्न हूँ कि मेरा कलाकार समसामयिक चेतना के प्रति जागरूक है। रही बात शंकर को चीनी आक्रमणकारी के रूप में दिखलाने की–यह एक ग़लत आरोप है। यदि मेरा मुद्दा यही होता तो मैं इसका नाम 'एक कंठ विषपायी' न रखता। शंकर की महानता दिखलाना ही मेरा अभीष्ट है। जब तक वे परंपरा के शव को चिपकाए रहे तब तक विवेक और संतुलन खोकर हिंसक

बने रहे, लेकिन जब वह सड़ी-गली परंपरा काटकर फेंक दी गई तो उन्होंने नई परिस्थितियों, मूल्यों और नई परंपरा को स्वीकार कर लिया। मनाही द्वारा युद्ध का रोका जाना उसकी स्वीकृति का ही सूचक है। शंकर की महानता इसी बात से सिद्ध होती है कि नाटक के सारे पात्र—दक्ष, सर्वहत और देवगण—भी परंपरा से कटकर नए मूल्यों को स्वीकारने की सामर्थ्य नहीं रखते, जबकि शंकर में यह सामर्थ्य है, इसलिए वे अनुकरणीय हैं, महान् हैं। इसीलिए उन्हीं के नाम की महिमा के अनुरूप मैंने इसे 'एक कंठ विषपायी' नाम दिया है।

अगर चीनी आक्रामक हमारी भूमि ख़ाली कर दें—सार्वजनिक रूप से अपनी ग़लती स्वीकार कर पीछे हट जाएँ, तो शायद शंकर की तरह भारतीय देवगणों द्वारा उनको भी यथोचित मान मिले। पर क्या वे शंकर हो सकते हैं? मेरे शंकर की उनसे तुलना, मेरे साथ ज़्यादती है।

बहरहाल, ये तो बात पर बात निकल आई—नाटक को वर्तमान पर लागू करने के संदर्भ में और भगवान् शंकर के संदर्भ में। और मैं समझता हूँ कि सारे देवताओं को आधुनिक विभिन्न वर्गों का प्रतीक मानकर देखा जा सकता है। श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने पूरे नाटक को युद्ध के संदर्भ में देखा है और अश्क जी ने परंपरा के। और मित्रों ने कुँवर को पूँजीपति वर्ग का प्रतिनिधि और वरुण को किसी नौकरी-पेशा लोगों आदि का प्रतिनिधि माना है—पर मैं इस सबसे इंकार नहीं करता। मुझे ये व्याख्याएँ ग़लत भी नहीं लगतीं। हाँ, ये मेरे अचेतन प्रयास हैं। मेरा सचेतन प्रयास केवल 'सर्वहित' है, जिसे मैंने परंपरा-हत, युद्ध-पीड़ित, शासन और राजलिप्सा की मारी हुई मानवता का प्रतीक बनाकर उठाया है। इसके संवाद लिखते हुए मैं कितना कलपा और रोया हूँ और कितनी गहराई से डूबकर मैंने उन्हें लिखा है, इसका अनुमान तभी हो सकता है जब आप उन्हें कभी मेरे मुँह से सुनें। उनमें अपार नाटकीय संभावनाएँ हैं।

पत्र बहुत लंबा हो रहा है, लेकिन मुझे अपने और किसी भी नाटक के संबंध में आपसे बातचीत करते हुए अच्छा लगता है, क्योंकि नाटक के प्रति पहला रुझान आपके ही संपर्क से हुआ था।

इस नाटक को मैं सिर्फ़ परंपरा वाला प्रश्न उठाने के लिए लिखना चाहता था। बहुत-से उदाहरण सामने थे। श्री नंददुलारे वाजपेयी—छायावाद के प्रथम सबल व्याख्याता और पोषक, छायावाद तक तो कविता के साथ चले, पर नई काव्यधारा के आते ही उसे कोसने लगे—स्वीकार नहीं कर पाए। नए मूल्यों और मानों में उन्हें कोई बात काम की नहीं लगी, क्यों? क्योंकि वे एक परंपरा से चिपके हुए थे। शंकर द्वारा सती की लाश चिपकाने और चिपकाए रखने की छोटी-सी घटना मुझे बहुत अर्थवान जान पड़ी और उसे मैंने प्रतीक-रूप से उठा लिया। फिर युद्ध, मृत्यु, सत्य, जनता, प्रजातंत्र आदि से संबंधित अनेक प्रसंग आते गए और मैं उन्हें अपनाता गया।

आपके इस वाक्य से कि 'पद्य में विचार-प्रधान नाटक रचना कठिन कार्य है और आप इसमें पूर्णतः सफल हुए हैं' मुझे बहुत बल मिला है और मैं तो चाहूँगा कि आप इस पर विस्तार से लिखें। मेरी पुस्तक रिव्यू के लिए अभी कहीं गई नहीं है। यदि आप आज्ञा दें तो मैं 'धर्मयुग' या 'कल्पना' से कहूँ कि वे आपसे निवेदन करें।

आपके नए नाटकों को देखने की इच्छा एवं प्रतीक्षा है।

सादर आपका

(दुष्यन्त कुमार)

श्री चिरंजीत
चीफ़ प्रोड्यूसर ड्रामा,
आकाशवाणी, नई दिल्ली

1962-63 में लिखा गया

रामनारायण उपाध्याय (खंडवा) को लिखे पत्र

भोपाल

भाई उपाध्याय जी,

धनंजय ने आपकी इतनी तारीफ की थी, आप न लिखते तो शायद पहला पत्र मेरा ही मिलता। अच्छे और फक्कड़ आदमियों से मिलना इस ज़माने में कम ही हो पाता है।

मैं खंडवा आने की सोच तो तभी से रहा हूँ जब से धनंजय गया है, पर छुट्टियाँ न होने के कारण मन मारकर रह जाता हूँ। वह बहुत प्यारा और जानदार आदमी है। उसके जाने से भोपाल सूना हो गया है मेरे लिए। अब आप भी कहते हैं तो आना पड़ेगा ही, पर कब, यह नहीं कह सकता। आप ही इधर आइए। वैसे आपका तो काम निकलता ही रहता होगा, इधर आने का!

सस्नेह

24.8.1964

दुष्यन्त कुमार

भोपाल

प्रिय भाई,

पुस्तक मिली। शानी भी यहीं आ गए हैं, सो कल उन्हें पहला 'धुँधले काँच की दीवार' लेख पढ़कर सुनाया। रात में हम दोनों ने और भी लेख पढ़े। असाधारण महत्त्व की बातें साधारणता के साथ कह देने का यह आर्ट बड़ा दुर्लभ है। यह कला कहाँ से सिद्ध की आपने? विद्यानिवास जी ने इतनी ठीक बातें कही हैं कि आलोचना लिखते बचता हूँ कि वे ही बातें मुझे कहनी पड़ेंगी, फिर भी लिखूँगा। निबंधों का जो एक गुण होता है कि व्यक्ति उसमें हो, सो मेरी तो पुस्तक के बहाने रामनारायण जी से ही भेंट हो गई। हँसते, चुटकियाँ लेते सरल मगर प्रखर दृष्टि वाले उपाध्याय जी से मेरी यह चौथी-पाँचवीं भेंट हुई। बधाई···

सस्नेह

21.1.1966

दुष्यन्त कुमार

एक पत्र एक उत्तर

प्रिय दुष्यन्त!

···ऐसी तो कोई बात नहीं कि तुम बुलवाना चाहो तो मध्य प्रदेश में अवसरों की कमी होगी···सच बात यह है कि तुम चाहते ही नहीं···

सस्नेह
राजेंद्र यादव

प्रिय राजेंद्र!

तुम्हारा पत्र मिला···वाकई तुम्हारे बुलाने लायक अवसरों की यहाँ क्या कमी! कुछ निमंत्रण-पत्र साथ भिजवा रहा हूँ। अपनी स्वीकृति शीघ्र भेजना। सत्र में आपकी उपस्थिति प्रार्थित है।

तुम्हारा
दुष्यन्त

संलग्न निमंत्रण-पत्र :

1. यादव-समाज-सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन
2. म॰ प्र॰ क्रीड़ा-मंडल पुरस्कार वितरण समारोह
3. आकाशवाणी श्रोता-संघ, वार्षिक अधिवेशन
4. पंजाब नेशनल बैंक की टी॰ टी॰ नगर शाखा का उद्घाटन
5. म॰ प्र॰ लेखक संघ की ओर से श्रीमती मन्नू भंडारी का सम्मान

---

1. यह एक अलग किस्म का पत्र है, जो राजेंद्र यादव और दुष्यन्त के दिलचस्प संबंधों को उजागर करता है।

डॉ॰ कांति कुमार के नाम[1]

प्रिय डॉक्टर,

तुम्हारा पत्र और साधना भाभी का लतीफ़ा पढ़ा। तुम्हारा पत्र भी किसी लतीफ़े से कम दिलचस्प नहीं है। वैसे वह व्याख्या तुम्हारी सही है जो 'पड़ाव' के संबंध में तुमने की है। 'सजदा किसी पड़ाव में' की ठीक वही व्याख्या मेरे मन में है जो तुमने की है···व्यक्ति और कवि-मन में ज़्यादा भेद कहाँ होता है! वैसे उसकी आध्यात्मिक व्याख्या भी की ही जा सकती है। ख़ैर···

तीसरा कविता-संग्रह दस-पाँच दिन में आ जाएगा। तुम्हें प्रति भेजूँगा—यदि 20 दिन में न मिले तो एक पोस्टकार्ड डाल देना।

मुन्नू जी मज़े में हैं। तुम्हारे ग्वालियर में होने पर अफ़सोस प्रकट कर रहे हैं। तुम न होते तो जीवा जी वि॰ वि॰ से कुछ न कुछ काम मिल ही जाता। अब तुम हो तो वह बेफ़िक्र हो गया और परिणामस्वरूप उस लाभ से वंचित रहा जो मास्टरों का वांछित, इष्ट होता है।

साधना भाभी के लतीफ़े पर कई मित्रों की चिट्ठियाँ आई हैं—कार का ज़िक्र सबने किया है जबकि आजकल कार क्या स्कूटर तक नहीं है। उन्हें मेरा नमस्कार देना और बच्चों को प्यार। तुम भी प्यार लेना।

तुम्हारा
दुष्यन्त

भोपाल

प्रिय डॉक्टर,

तुम्हारे तार के इंतज़ार में सूख-सूखकर काँटा हो गया—क्या हुआ? मेरा प्रकाशक मेरी जान खा रहा है, उसे क्या उत्तर दूँ?

तुम्हारा
दुष्यन्त

पुनश्चः

कु॰ नीना शिन्दे का पत्र मिला। वे अपना काम शुरू कर दें···मैं सुविधा से अपने बारे में भेज दूँगा।

भाभी को सलाम, बच्चों को प्यार।

दुष्यन्त

---

1. यह पत्र हिंदी के प्रतिष्ठित संस्मरण लेखक डॉ. कांति कुमार को संबोधित है। पत्र 1975 का है।

राजनेता और कवि-गीतकार विट्ठल भाई पटेल के नाम

18.12.75

प्रिय विट्ठल भाई,

सादर वंदन,

संलग्न जानकारी इसलिए कि आप विद्याचरण जी को दे सकें···और वे जान सकें कि क्या Qualifications है।

Dir. Chief Producer, Spoken Word Hindi के प्रपोज़ल वे डायरेक्टर जनरल से माँगेंगे। इस पद के लिए मैंने आवेदन भी किया है। जब मार्च, '75 में ये विज्ञापित हुआ था। पर अभी तक कुछ हुआ नहीं। मैं पहले Producer Spoken Word के पद पर काम कर चुका हूँ। ये पद Offer किया गया था मुझे। Producer से ठीक ऊपर की Post है Dir. Chief Producer. यदि विद्या भैया मान जाएँ तो यह पद Offer किया जा सकता है। पहले भी हमेशा Chief Producer और Dir. Chief के पद Offer ही किए गए हैं, इनके इंटरव्यू नहीं होते।

अगर इसमें असुविधा हो तो फिर Producer (Spoken Word) की Post वे मुझे भोपाल पर ही Offer कर सकते हैं। उस पद पर मैं पहले काम कर चुका हूँ। क्योंकि मेरा वेतन उस पद के प्रारंभिक वेतन से कहीं अधिक है, इसलिए इतना करा दीजिएगा कि वे मुझे डेपुटेशन पर बुला लें। वे बुलाकर अपने साथ Attach कर लें तब भी अच्छा रहेगा।

मेरे विभाग में मेरा भविष्य हमेशा के लिए सील कर दिया गया है और मैं जल्दी से जल्दी इससे मुक्ति चाहता हूँ। मैं मिन्नत करने का आदी हरगिज़ नहीं लेकिन आप मेरे मित्र और सहधर्मी कवि हैं, इसलिए अधिकारपूर्वक आग्रह के साथ मिन्नत भी कर रहा हूँ कि मुझे इस नर्क से मुक्ति दिलाइए। अब सेठी जी के राज्य में और अंधे प्रशासन में मुझसे नौकरी नहीं हो सकती।

मैं 20 को एक कवि-सम्मेलन में मिरजापुर रहूँगा, 21 की रात को आऊँगा। 22 को भोपाल रेडियो पर मेरा एक प्रोग्राम है। 22 को आ जाऊँगा।

आपका

दुष्यन्त

आलोचक मित्र धनंजय वर्मा के नाम लिखे पत्र

(1)

भोपाल

16 जनवरी, 1963

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र मिला। मुझे तुम्हारी स्थिति की कल्पना करके यहाँ काफ़ी आनंद आता है और दोस्तों में वैठकर तुम्हारी वहाँ की संभावित स्थितियों के वो-वो ख़ाके खींचता हूँ कि सुनो तो तबीयत साफ़ हो जाए। लगता है, लौटोगे तो लेखक से लुहार बन गए होगे···हाँ, घर की ओर से निश्चिंत रहो। राजो, मेरी माँ और मुन्नू वहाँ जाते रहते हैं और वहाँ यथासंभव कोई कष्ट नहीं होने पाएगा। पर तुम कहीं लौटते तक राइफ़ल का आकार मत ग्रहण कर लेना···मेरा उपन्यास कमलेश्वर ने खो दिया है, लगता है, इसलिए तुम्हारे लेख को दबाए हूँ अभी। विक्रम में नहीं जा रहा हूँ। देवास भी नहीं···रघुवंशी मेरे भाई और विजेन्द्र के मित्रों में से हैं। उन्हें मेरी याद दिलाना और कुशल। अप्पू अपने लुच्चे चाचा को याद करता है। बच्चों का नमस्कार। राजो का और मेरा आशीष···

सस्नेह

दुष्यन्त

पुनश्च : तिवारी का ट्रांसफर ग्वालियर हो गया, रामविलास का इंदौर। चलो, शानी को कंपनी तो मिली।

दुष्यन्त

और यह दूसरा ख़त कुछ सूचनाओं के साथ मेरे लेख पर उसका असंतोष बताता है। हम लोगों के बीच तब तक इतनी आपसी समझ विकसित हो चुकी थी कि एक-दूसरे के लेखन पर बेबाक राय ज़ाहिर कर सकें।

(2)

13 फ़रवरी, 1963

प्रिय धनंजय,

काफ़ी इंतज़ार के बाद तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हें जितना मिस कर रहा हूँ, उतना

स्वभावतः कभी किसी को नहीं किया। जब परसों अम्माँ ने बताया कि तुम 25 मार्च को आ रहे हो, तो जाकर शांति मिली। मेरा उपन्यास अब राजकमल पहुँच गया है। कमलेश्वर की 'सारिका' वाली बात काफ़ी हद तक सही है। पर उसने स्वयं कुछ नहीं लिखा, देखा··शानी का तार मिला था, पर तब, जब वह ग्वालियर पहुँच गया होगा। मैं इसी महीने दिल्ली जाने की सोच रहा हूँ—चार-पाँच दिनों के लिए, तभी सारी बातें तय होंगी। 'ज्ञानोदय' में तुम्हारा लेख पढ़ा था। विश्लेषण से सहमत होते हुए भी मुझे उसका विस्तार बहुत छोटा और अपर्याप्त लगा। मुन्नू तुम्हारे घर का हालचाल लाता रहता है। वहाँ सब ठीक है। पत्र लिखना और जब आओ तो तार द्वारा गाड़ी बताना।

प्यार के साथ
तुम्हारा
दुष्यन्त

यह तीसरा ख़त उसकी रचनात्मक बेचैनी और ज़ेहनी कशमकश को उजागर कर रहा है :

(3)

12 मार्च, 1963

हाँ धनंजय,

कविता-संग्रह ज़रूर आ जाएगा, तुम्हारे आने तक। आने पर तुम्हें एक काव्य-नाटक भी देखने को मिलेगा, जो मैंने दो दिनों पहले ही पूर्ण किया है··हम जो नई परंपरा से चौंकते हैं, उसको गालियाँ देते हैं; हम जो सत्य से बचते और कतराते हैं और उन प्रश्नों पर मनन नहीं करते, जो कटु, नए या अनपेक्षित होते हैं; हम जो परंपरा के मर जाने पर दुखी होते हैं, उसके शव को बरसों तक ढोते हैं और मृत्यु या समाप्ति के सहज सत्य को स्वीकार नहीं करते; यह सब तथा युद्ध आदि के प्रश्न और सारी बातें बड़ी तटस्थता और निस्संगता से उस नाटक में मैंने उठाई हैं··लेकिन मुझे क्या मालूम था कि रचना के समाप्त होते ही यही सारे प्रश्न मेरे भी सामने आ खड़े होंगे। मैं जिस भाव सत्य से चिपटा और जुड़ा हुआ था और जिसमें जी रहा था, अब मुझे उससे अलग होना पड़ेगा अथवा अलग कर दिया जाऊँगा··पहले मनःस्थिति ख़राब थी तब, जब ऐसी बातें चल रही थीं और अब 'उसका' जाना निश्चित हो गया है, मेरी मानसिक स्थिति की तुम कल्पना कर सकते हो। लगता है, मेरे पाँवों के नीचे से ज़मीन खींच ली गई है। कुछ पढ़ने-लिखने को मन नहीं होता। बस, रोना चाहता हूँ और मेरा दुर्भाग्य कि ऐसा एक भी आदमी यहाँ नहीं है, जिसके सामने भीतर उमड़ता हुआ आग का दरिया उड़ेल दूँ··लगता है, जब

तक तुम आओ, तब तक मैं कहीं पागल न हो जाऊँ···

तुम्हारा
दुष्यन्त

यह काव्य-नाटक है—'एक कंठ विषपायी', जो मेरी नज़र में दुष्यन्त का 'मेग्नम ओपस' है और यह पत्र उसके रचनात्मक नेपथ्य को समझने के लिए ख़ासा महत्त्वपूर्ण है। इसमें उस काव्य-नाटक की थीम का खुलासा तो है ही, उसकी रचनात्मकता कितने व्यक्तिगत आसंगों से जुड़ी है, यह पत्र उसका भी साक्षी है। दुष्यन्त को व्यथित कर रहा है—'उसका' जाना, यानी उसकी उस प्रेमिका का जाना, जिसके बारे में लगभग हर बात वो मुझे बता दिया करता था, यानी उसका मैं राज़दाँ था। मैं जानता हूँ कि किसी की राज़ की बात भरी महफ़िल में नहीं कहनी चाहिए, लेकिन किसी का प्रेम कब तक राज़ रहा है? अपनी उस प्रेमिका के नाम की संक्षिप्त—स्लम—का प्रयोग दुष्यन्त ने स्वयं किया है। 'आवाज़ों के घेरे' में एक कविता भी है—'अपनी प्रेमिका के नाम···!' बहरहाल, मैं जब लौटकर आया तो कई-कई दिनों तक 'एक कंठ विषपायी' की रचना पर हमारी चर्चाओं के दौर चले। अपनी रचना के प्रति जितना खुला दिल ओ दिमाग़ दुष्यन्त का था, उतना कम ही लोगों का होता है। इसीलिए कई-कई संशोधनों और परिष्कारों के बाद उसे अंतिम रूप दिया गया।

यह अगला संक्षिप्त पत्र भी उसकी उद्विग्नता को रेखांकित करता है :

(4)

19 मार्च, 1963
भोपाल

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र कल मिला। चित्त शांत है, पत्र पाकर ज़रूर उद्विग्न हो गया था। शायद जो चीज़ जब तक मेरे लिए सहज सुलभ होती है, तब तक मैं उसको कोई विशेष अहमियत नहीं देता··जैसे तुम्हीं जब चले गए तो ज़्यादा ज़रूरी हुए। बहरहाल, तुम आओ, मैं इंतज़ार में हूँ। कल शायद इलाहाबाद जा रहा हूँ।

सस्नेह
दुष्यन्त कुमार

उसका ज़ेहनी इज़्तिराब अभी भी थमा नहीं है, इसीलिए भाग-दौड़ में खुद को ग़र्क कर देना चाहता है।

(5)

27 मार्च, 1963
भोपाल

धनंजय,

तुमने सही समझा। मूड बेहद ख़राब था, इसलिए पागल-सा भोपाल छोड़कर भागा। ग्वालियर से शानी को लिया, दिल्ली गया, घूमा-फिरा और आठ दिन बाद घर लौटा तो तुम्हारा पत्र पाया...कविता-संग्रह तुम्हारे लौटने तक छप जाएगा। उपन्यास अप्रैल से पहले नहीं, तभी शानी का भी छपेगा। ओम प्रकाश जी 'नई कहानियाँ' में शानी को लेने के लिए तैयार हो गए थे, पर पैसों की बात नहीं पटी। शानी 400 रुपयों से कम पर दिल्ली जाने को तैयार नहीं। कमलेश्वर की 'सारिका' की एडीटरशिप तय हो गई थी, पर थोड़ा झगड़ा पड़ गया है। मेरा भी बाहर जाना तय हो गया है, केवल मेरे ऊपर है। भोपाल से जाने की इच्छा नहीं होती। मुन्नू की पढ़ाई बहुत ही संतोषप्रद है और उतना वही पढ़ सकता था। आगे उसका भाग्य। कल शायद तुम्हारे घर जाऊँगा। कल दिल्ली से लौटा हूँ।

सस्नेह
दुष्यन्त

और कामठी में मिली उसकी आख़िरी चिट्ठी—अंग्रेज़ी में। मानो कहना चाहता हो कि अंग्रेज़ी में भी लिख सकता हूँ :

(6)

30 मार्च, 1963
भोपाल

डियर धनंजय,

आई हैव सेंट यू टुडे रु॰ 30.00 बाई टी॰एम॰ओ॰ रेज़ डिज़ायर्ड बाई यू॰, आई॰ रिसीव्ड योर लेटर यस्टरडे, ओनली ऐज़ अ रिज़ल्ट ऑव व्हिच इट वाज़ डिलेड, ईव्हन नाऊ, आई होप, इट विल रीच यू इन टाइम, आई एम इम्पेशेंटली वेटिंग फ़ॉर यू टू कम एंड ज्वॉइन मी एट दिस आवर ऑव क्राइसिस। माई माइंड इज़ सो फुल ऑव थॉट्स एंड आइडियाज़ दैट अ नंबर ऑव थिंग्स आर बाउंड टू कम थ्रू माई पेन—दो दे नीड अ लिटिल डिस्कशन फ़ॉर अ डेफ़िनिट शेप बिफ़ोर दे आर पुट टू क्रिएशन...माई मदर हैड गॉन टू योर हाउस डे बिफ़ोर यस्टरडे। ऑल आर वेल देयर। मुन्नू हैज़ डन हिज़ पेपर्स क्वाइट नाइसली बट नॉट टू हिज़ एंटायर सेटिस्फ़ेक्शन रेज़ द फ़र्स्ट पेपर वाज़ मोस्ट अनएक्स्पेक्टेड एंड नो स्टूडेंट कुड क्लेम टू हैव डन इट टू अ फ़र्स्ट क्लास स्टैंडर्ड...आई एम परहैप्स गोइंग आउट फ़ॉर अ फ़्यू डेज़ टू

सी व्हाट कैन बी डन। आई शैल रिटर्न बिफ़ोर यू कम बैक। होप दिस फ़ाइंड्स यू वेल…

सिंसियरली योर्स
दुष्यन्त

एन॰बी॰

राजो इज़ आल्सो अपीयरिंग ऐज़ अ कैंडीडेट फ़ॉर द एक्ज़ामिनेशन। शी हैज़ ऐज़ वाज़ एक्सपेक्टेड, डन पुअरली…आई एम एक्सपेक्टिंग माई बुक (पोयम्स) एनी डे बिकॉज़ आई वाज़ रिपोर्टेड क्वाइट अ फ़्यू डेज़ बैक। दैट थ्री फ़ॉर्म्स, दैट इज़, फ़ोर्टी ऐट पेजेज़, हैव बीन प्रिंटेड। द टाइटिल 'पुकारती दिशाएँ' हेज़ बीन चेंज़्ड टू 'आवाज़ों के घेरे'। रेस्ट इज़ ओ॰के॰।

दुष्यन्त

अगला ख़त हालाँकि मुझे नहीं लिखा गया है, लेकिन साहित्य में आलोचना के पीछे मोटिव्ज़ खोजने की समकालीन प्रवृत्ति पर दुष्यन्त की साफ़ और सटीक समझ के साथ उसकी बेलाग टिप्पणी के लिहाज़ से महत्त्वपूर्ण है। मुलाहिज़ा हो :

(7)
'लहर' के संपादक प्रकाश जैन के नाम

12 अप्रैल, 1964
भोपाल

प्रिय प्रकाश,

कल धनंजय के पास तुम्हारा पत्र देखकर न सिर्फ़ कोफ़्त हुई, बल्कि तुम्हारी अभद्रता पर क्षोभ भी हुआ। आश्चर्य हुआ कि तुम इन टर्म्स में भी सोच सकते हो। तुम्हें शायद पता नहीं है कि रमेश और धनंजय न सिर्फ़ कलीग हैं, बल्कि परस्पर गहरे दोस्त भी हैं। अगर साहित्यिक मूल्य निर्धारण के आधार पर ही दोस्ती और दुश्मनी का निपटारा होता है तो उसका सबसे बड़ा दुश्मन मैं सिद्ध होता हूँ, जिसने उसकी हर किताब को निहायत साधारण समझा और कहा और साथ ही हमारा दूसरा दोस्त शरद जोशी, जिसके विचारों से तुम भी परिचित हो। क्या साहित्य में इतनी ईमानदारी भी नहीं रह गई है कि किसी लेखक के साहित्य पर तटस्थ और निर्भीक होकर लिखा जा सके?

मैंने 'कल्पना' में राकेश के लेखन की आलोचना की तो क्या वह मेरा दोस्त नहीं रहा या मैंने प्रारंभ की मनमोहिनी की कविताओं को क्रिटिसाइज़ किया तो तुमने या उसने इसका बुरा माना? साहित्य में आलोचना के पीछे मोटिव्ज़ खोजना एक

निहायत घटिया और टुच्ची बात है और रमेश वाले लेख में धनंजय का मोटिव खोजकर तुमने इसी प्रवृत्ति का परिचय दिया है, जिसकी तुमसे क़तई उम्मीद नहीं थी।

रमेश को उसने लेख सुनाकर ही भेजा था। हम तीनों ने उस पर चर्चा की थी। अगर उसका बुरा मोटिव होता तो वह परिवर्तन और संशोधन के लिए बक्षी के और मेरे सामने अपने काड्र्स यों खुले न फेंक देता। मैं यह मानता हूँ और मैंने उस समय भी कहा था कि लेख थोड़ा सख़्त और ज़्यादा ईमानदार है। इसमें थोड़ी बेईमानी होनी चाहिए थी, दोस्ती के नाते। मगर मुझे यह भी लगा था कि अपने किसी दोस्त पर इतनी निस्संगता से लिखना ख़ुद में एक बड़ी बात है। तुम्हारी इस पंक्ति से कि 'धनंजय ने व्यक्तिगत कारणों से बक्षी को हेय साबित करना चाहा है', उसे चोट पहुँची है और उससे भी ज़्यादा मुझे इस बात से दुःख हुआ है कि एक साधारण-सी बात को तुमने इतना ग़लत मोड़ दे दिया।

पता नहीं तुमने इस स्तंभ का मतलब यह कैसे निकाल लिया कि इसमें हम लेखकों को अर्घ्य चढ़ाएँगे। यदि हम लोग भी ठकुरसुहाती कहें तो फिर नई पीढ़ी की जिस ईमानदारी की हम बात करते हैं, उसका क्या मूल्य रहा? क्या उपलब्धियों वाले स्तंभ में किसी को लेने का यही मतलब है कि उसकी आरती उतारी जाए? हमारा मक़सद तो उपलब्धियों का स्वरूप निर्धारण करना है। क्या तुम समझते हो कि धनंजय ने उसकी 150-200 अप्रकाशित रचनाएँ इसीलिए पढ़ीं कि उसे हेय सिद्ध करे? बक्षी कहानीकार के रूप में समकालीनों में अगर कमज़ोर पड़ता है तो इसमें धनंजय का दोष तब होता जब वह उससे ऐसी बात न कहता, उसे मुग़ालते में रखता और वाह-वाह करता। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम्हें संपादक के रूप में आलोचक की राय बदलने का क्या अधिकार है? और क्या संपादक को मत वैभिन्य रखते हुए भी आलोचक की राय नहीं छापनी चाहिए? क्या तुम नेमिचंद्र जैन की समीक्षा से शत-प्रतिशत सहमत थे? या क्या 'कल्पना' संपादक, भगवतशरण उपाध्याय की उर्वशी और परशुराम की प्रतीक्षा वाली आलोचनाओं से? फिर तुमने किसी एक को डिपेंड करने का बीड़ा क्यों उठा लिया, प्यारे! और उठा ही लिया तो कहाँ-कहाँ उसके हाथ रखते फिरोगे? साहित्य-सृजन आशीर्वाद की छाया में नहीं होता और इस प्रकार की सरपरस्तगी से कोई लेखक महान् नहीं बना है। बक्षी इस बात को बख़ूबी जानता है। वह चूँकि मूलतः लेखक है, अतः तुम्हारे इस स्टैंड से प्रसन्न भले हो ले, पर उपकृत नहीं होगा। अस्तु।

भाषण देकर मैं तुम्हें और तुम्हारे दृष्टिकोण को बदल नहीं सकता। वैसे मैं यह ज़रूर चाहूँगा कि साहित्यिक चीज़ों के प्रति साहित्यिक अप्रोच ही रखनी चाहिए। और स्तंभ बंद करके तुमने उसका हित ही किया है। अब वह लेख जहाँ भी छपेगा, कम से कम पैसे तो देगा। वो यों भी मुझे कोसता रहता था कि तुमने वहाँ कमिट कर लिया।

आशा है, तुम प्रसन्न होगे और शांत चित्त से सारी बातों पर विचार करके एक ठंडा-सा पत्र धनंजय को लिखोगे। साथ ही रमेश बक्षी को भी कि वह शिकायत होने पर सीधे धनंजय से कह देता और वह लेख खुद ही न छपाता···बंधु, गुस्सा थूको और प्यार के मूड में आ जाओ। लेखकीय संबंध तोड़ने के बाद भी तुम उससे दोस्ती रख सकते हो···

सस्नेह

दुष्यन्त

हुआ यह कि 1963-64 में हम लोगों में 'नई कहानी की उपलब्धियाँ' शीर्षक एक स्तंभ 'लहर' (अजमेर) में शुरू किया। तय यह हुआ कि कहानीकार के व्यक्तित्व पर दुष्यन्त लिखेगा और उसकी रचनात्मकता की पड़ताल मैं करूँगा। पहला कहानीकार तय हुआ—राजेन्द्र यादव। व्यक्तित्व पर दुष्यन्त का लेख ख़ूब सराहा गया और रचनात्मकता पर, मेरे लेख पर राजेन्द्र यादव की गद्‌गद अभिभूत प्रतिक्रिया ए फ़ोर आकार के तीन पृष्ठों में आई। दूसरा कहानीकार दुष्यन्त ने तय किया—रमेश बक्षी। मुझे तो उसका निर्णय मानना ही था। ज़ाहिर है, व्यक्तित्व वाले लेख पर न रमेश को कोई ख़ास एतराज़ हुआ, न प्रकाश जैन को। लेकिन प्रकाश जैन का एक पत्र (क्रमांक 1546/64, दिनांक 9 अप्रैल, 1964) मुझे मिला। मैंने वह पत्र दुष्यन्त को दिखाया। दुष्यन्त का जवाब क़ाबिलेग़ौर है···रमेश बक्षी पर लिखा हुआ वह लेख अब मेरी पुस्तक 'हिंदी कहानी का सफ़रनामा' में संकलित है। उसे इतने बरसों बाद अब पढ़ता हूँ तो मुझे सचमुच रमेश बक्षी की सहिष्णुता पर आश्चर्य होता है। वह इतना अनअनुकूल है कि कोई दूसरा होता तो उसने तभी मुझसे सारे रिश्ते तर्क़ कर लिए होते। ऐसा हुआ है। लेकिन रमेश ने एक प्रगाढ़ मैत्री मुझसे अंत तक निभाई। आलोचना का इतना सम्मान करने वाली ऐसी ही एक मिसाल धर्मवीर भारती की थी। बहरहाल···

मेरा तबादला खंडवा हो गया। उपन्यास के प्रकाशन के समाचार के साथ दुष्यन्त के सिफ़ाती अंदाज़ में यह ख़त :

(8)

23 अक्टूबर, 1964

प्रिय धनंजय,

तुम्हारे नाम पोस्टकार्ड पर गालियाँ लिखने वाला था ताकि तुम्हारे विद्यार्थी उसे पढ़कर प्रसन्न हों। फ़िलहाल तुम पर लानत भेजने की इच्छा है···गुरु ग्रंथ साहित्य—छोटे-छोटे सवाल—प्रकाशित हो गया है। इसके लिए एक कमरे को धूप-दीप-नैवेद्य से सुवासित करके वहाँ चौकी रखवा दो ताकि तुम्हें उसके पूजन में सुविधा हो। तुम्हारी प्रति मेरे पास रखी है। जब व्यवस्था पूरी हो जाए, मुझे लिखना। मैं तुझे तेरी प्रति भेज दूँगा···आशा है, तेरी मास्टरी मज़े से चल रही होगी और तू

जमकर बच्चों का भविष्य बिगाड़ रहा होगा। मुन्नू भी तेरे ही पदचिह्नों पर आ गया है। श्री रामनारायण उपाध्याय को मेरी याद दिलाना। आशा है, तुम्हारा लड़का तुम्हें अच्छी-अच्छी और चुनिंदा गालियाँ देना सीख रहा होगा। मैं आकर उसे कुछ और गालियाँ याद कराना चाहता हूँ ताकि साल-भर की खुराक मिलती रहे। अम्माँ को प्रणाम, बच्चों को प्यार देना···राजो आ गई है। अब बुरहानपुर जाने की श्रद्धा नहीं है। सुनो, कोई मौक़ा निकालकर आओ न···

दुष्यन्त

बिना गाली-गलौज और वाही-तबाही के ख़त लिखना दुष्यन्त की आदत में शुमार नहीं था। यह ख़त फिर उसी कीं मिसाल है :

(9)

7 नवंबर, 1964
भोपाल

डियर,

तुम घूरों में उपन्यास के योग्य स्थान तलाश करते घूम रहे हो, इस समाचार से मुझे शांति मिली। दरअसल वे ही स्थान हैं जहाँ तुम्हारे चित्त और आत्मा को सुकून मिलता होगा। वहाँ घूमते हुए वे सारे स्थल याद आते होंगे जहाँ पिछले जन्म में तुम समूह में विचरा करते थे। लिखना, अब कैसी अनुभूति होती है? देह किस वृक्ष से रगड़ते हो? भोपाल रहकर तुमने सिद्ध कर दिया कि पिछले दिनों में यदि तुम शूकर योनि में थे तो मैं अवश्य कोई वृक्ष रहा हूँगा। तुम्हारी रगड़ें मुझे ही सहनी पड़ती थीं और अब भी पड़ती हैं। मगर इस बार मलयज ने भी 'एक कंठ विषपायी' पर एक रगड़ 'माध्यम' के माध्यम से मार दी। तुमने उसका रिव्यू पढ़ा?···तुम्हारा लेख क्या हो रहा है? उपन्यास भेजने के लिए पैसे नहीं हैं। मुन्नू जबलपुर गया। राजो वहाँ से इस्तीफ़ा देकर यहीं हायर सेकेंडरी में लेक्चरर हो रही है। आलोक सैनिक स्कूल में सिलेक्ट हो गया है। उपन्यास एक व्यक्ति के द्वारा भिजवा रहा हूँ। दो-तीन दिनों में ही। अम्माँ को प्रणाम और बच्चों को प्यार। 'केंद्र' में शानी की एक बड़ी अच्छी कहानी आई है।

तुम्हारा
दुष्यन्त

अगले ख़त में किसी की सिफ़ारिश है : डब्ल्यू. ई. हुकिन्स, अंग्रेज़ी के प्रोफ़ेसर, मेरे पुराने कलीग थे। दुष्यन्त दुबारा रेडियो की नौकरी में जाना चाहता था। और भंडारकर, मेरा स्कूली दोस्त, जो उन दिनों खंडवा के सिंचाई विभाग में एक्ज़ीक्यूटिव

इंजीनियर था, दुष्यन्त की एक सरकारी खंडवा यात्रा में वह उसका मुरीद हो गया था।

(10)

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र मिला। पत्र क्या, गालियाँ मिलीं। मैं अभी गालियाँ लौटा नहीं रहा हूँ, क्योंकि तुम्हें जितनी मोटी गालियाँ देना चाहता हूँ, उतनी के लिए मानसिक शांति चाहिए, जो नहीं है। हुकिन्स से यह काम करा देना। मेरा रेडियो का मामला पैसे के प्वॉइंट पर फ़ेल हो गया, यानी तुम्हारी बद्दुआ लग गई। शानी का शायद हो जाए। उसमें दरअसल एजूकेशन क्वालीफ़िकेशन की गड़बड़ी है। यह काम चौरे का है। मेरे हेड ट्रांसलेटर! तुम परिचित हो न? अम्माँ को प्रणाम देना। बच्चों को प्यार। भंडारकर को जूते मारना—साला बेवफ़ा। रमेश को याद···

तुम्हारा
दुष्यन्त

और चंद हिदायतें, कुछ नसीहतें और थोड़ी जानकारियाँ समेटे यह अगला ख़त :

(11)

धनंजय,

इस पत्र के साथ रजिस्टर्ड बुक पोस्ट से पुस्तक रवाना कर रहा हूँ। एक ट्रांसलेटर आने वाला था, वह लौट भी आया। मुझे 12 से 21 तक उज्जैन, कालिदास समारोह में चले जाना पड़ा···मलयज ही क्यों, सारे छुटभैये अपनी-अपनी पीड़ा निकाल रहे हैं। चन्द्रकान्त देवताले ने भी 'नई दुनिया' या 'इंदौर समाचार' में ऐसा ही कुछ लिखा है···तुम्हारा लेख 'माध्यम' : आठ में आ रहा है, ऐसा मुझे बद्रीनाथ तिवारी ने लिखा है···शानी मेरे साथ उज्जैन में था। मैंने उसको भी बुलवाकर सरकारी धंधा निकलवाकर रोक लिया था। उसका कोट भी चोरी चला गया था वहीं, वह भी फिर वहीं से ख़र्च निकलवाकर बनवाया···राजो यहीं घर के सामने वाले स्कूल में लेक्चरर हो गई है। घर पर टेलीफ़ोन लग गया है, क्योंकि वक़्त गुज़ारने की कोई और सुविधा नहीं रही। पत्र तुम्हें बेहद जल्दी में लिख रहा हूँ। विस्तार से फिर लिखूँगा, तब तक तुम पुस्तक का पारायण करो···सस्नेह···

दुष्यन्त कुमार

पुनः प्रो॰ शिवनाथ उपाध्याय आए थे। वे कह रहे थे कि श्रीकान्त जोशी उनसे मिले थे। धनंजय के संबंध में अपनी पीड़ा व्यक्त कर रहे थे···कि प्रिंसिपल के कमरे

में सिगरेट आदि पीते हैं। यह बात तो ठीक नहीं है। तुम जोशी को क्यों नाराज़ किए हो? उनकी पीड़ा का निवारण करो··

दुष्यन्त

'एक कंठ विषपायी' पर प्रतिकूल टिप्पणियों और समीक्षाओं से दुष्यन्त ख़ासा उद्विग्न है। शानी जब ग्वालियर में था तब उसने मध्य भारत हिंदी साहित्य सभा में एक परिसंवाद आयोजित करवाया था। 'एक कंठ विषपायी' पर मेरा एक लंबा लेख केंद्र में था। 'माध्यम-8' में वही लेख प्रकाशित हुआ··प्रो॰ शिवनाथ उपाध्याय हमीदिया कॉलेज, भोपाल में हिंदी के विभाग अध्यक्ष थे। मैं पदोन्नत होकर, सहायक प्राध्यापक के पद पर खंडवा गया था। नीलकंठेश्वर महाविद्यालय पहले अशासकीय था और श्रीकान्त जोशी हिंदी के विभागाध्यक्ष थे। शासनाधीन होने की वजह से शासकीय सेवा में जोशी जी का संविलयन व्याख्याता के पद पर हुआ और उम्र में मुझसे बड़े होने के बावजूद वह मुझसे कनिष्ठ हो गए। मैं तथाकथित विभागाध्यक्ष! मैंने भरसक उन्हें निभाया, लेकिन उनकी पीड़ा का निवारण नहीं कर पाया।

अगले पत्र में दुष्यन्त व्यासपीठ पर प्रवचन की मुद्रा में हैं, लेकिन मूलवृत्ति कहाँ छूट पाती है! लानत-मलामत बरकरार है—

(12)

8 फ़रवरी, 1965
भोपाल

प्रिय प्रोफ़ेसर,

यह अध्यापकों की जाति कितनी बेदर्द और बेरहम होती है—इसका अनुमान तुम्हारी चुप्पी और ख़ामोशी से लगाया जा सकता है। जिन चरणों में बैठकर जीवन साहित्य, समाज और संस्कृति के मूल तत्त्वों पर तुमने प्रवचन सुने, उन्हें तुम भूल गए, यह कितनी बड़ी विडंबना है। तुम्हें धिक्कार है··कमलेश्वर ने तुम्हारा पता माँगा है और पूछा है कि 'मेरे ख़िलाफ़ तुम दोनों फ़िर कब लिख रहे हो?' फिर रेडियो में जाने का इरादा बन रहा है। शानी का भी हो गया होगा। वह भी असिस्टेंट प्रोड्यूसर हो रहा है। अब रेडियो में डी॰ए॰ 75.00 रुपए और बढ़ गया है। मैंने 500.00 रु॰ माँगे हैं। देखो··बच्चों को प्यार। अम्माँ को प्रणाम··

तुम्हारा
दुष्यन्त

अगला ख़त ख़ुद से अधिक दोस्त शानी के भविष्य की आशंकाओं से ग्रस्त मानसिक स्थिति को उजागर करता है। रेडियो पर फिर दोनों में से किसी का जाना नहीं हो पाया।

(13)

31 अगस्त, 1965
भोपाल

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र तो काफ़ी समय पहले मिल गया था, पर पारिवारिक अशांति और निरंतर बुरे समाचारों की प्राप्ति ने मूड ऐसा बनने नहीं दिया कि तुम्हें जमकर कुछ लिख पाता···अभी एक पत्र द्वारा सूचना मिली कि शानी ने इस्तीफ़ा दे दिया है—25 अगस्त को। मैंने उसे लिखा है कि वह भावुकता के जोश में न आए। तुम भी उसे समझाना वरना उसे मुश्किल होगी। उधर बस्तर में विजेन्द्र भी ऐसी ही गड़बड़ कर रहा है। तुम फ़ौरन उसे समझाकर लिखो। वह फ्रीलांसिंग की तकलीफ़ें झेल नहीं पाएगा और तब दुहरी तकलीफ़ हमें-तुम्हें होगी। शेष फिर···

तुम्हारा
दुष्यन्त

शानी को समझाया मैंने भी, लेकिन उसने किसी की भी वात नहीं मानी। एक सत्र पूरा होते न होते मेरा तबादला नरसिंहपुर हो गया। वहाँ दुष्यन्त का यह ख़त मिला :

(14)

26 सितंबर, 1965
भोपाल

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र मिला। तुम्हारे प्रोफ़ेसर की सिफ़ारिश कर दी है। जो होगा, आगे भी कर दूँगा। पर अपना कहना-सुनना केवल क्लर्कों और संबंधित सेक्शनल सुपरिंटेंडेंट तक ही सीमित है, कृष्णन् साहब से नहीं···अब तुम गालियाँ सुनो। साले, सूअर, तुम्हें इतनी चिट्ठियाँ लिखीं और तुम उलाहना देते हो कि पत्रोत्तर नहीं दिया। हमारा दोष नहीं है, यदि तुम्हारे शहर का नाम नरसिंहगढ़ नहीं है, नरसिंहपुर है। हमने सोचा कि तुम हमारी कंपनी के आदमी हो—यानी राजवंश के···, इसलिए राज परंपरा के मुताबिक़ गढ़ में ही जाओगे। हमें क्या पता था कि तुम हमारे संपर्क में रहने के बावजूद मुंशी के मुंशी ही रहे और नरसिंहगढ़ की बजाय नरसिंहपुर में जा मरे। ख़ैर, वह ख़त री-डायरेक्ट होकर आया तो भूल मालूम हुई···एक पाकिस्तानी पैराट्रूप ग्वालियर से यहाँ आ गया है। उसे घुसपैठिए की संज्ञा दी जा रही है। इसलिए विचार यह है कि उसे यहीं बसा लिया जाए। देखो···10-15 दिन में पता चलेगा। कान्ति कुमार यहाँ आ गया है। सदन का ट्रांसफर रायसेन हो गया है, इसलिए यह बहुत ज़रूरी

है कि ई जानिब के दरबार में जो चंद जगहें ख़ाली हुई हैं, उन्हें फ़ौरन से पेश्तर भरा जाए। तुम वहाँ भी रम गए···इसका मतलब यह है कि किसी चक्कर में उलझ गए। ज़रा साफ़-साफ़ लिखना कि तुम्हारी हरमज़दगियों का चक्कर क्या है? शानी तुम्हें गाली दे रहा है। राजो और बच्चों को प्रणाम···

तुम्हारा
दुष्यन्त

पाकिस्तानी पैराट्रूप और घुसपैठिया के विशेषणों से जिसे नवाजा जा रहा है, वह शानी है। मैंने दुष्यन्त को मशविरा दिया कि उससे इस तरह का भद्दा मज़ाक़ न करे, इस मामले में वह बहुत 'टची' है और वह इसका बुरा भी मान सकता है। बहरहाल, नौकरशाही नाज़-ओ-अंदाज़ से लगभग ऑब्सेस्ड दुष्यन्त की यह अदा भी क़ाबिलेग़ौर है।

(15)

69/8 साउथ

श्रद्धेय वर्मा जी,

प्रणाम!

श्री दुष्यन्त कुमार जी आपके पत्र का उत्तर दे चुके हैं। अस्तु, आपके एक्सप्रेस के उत्तर की गुंजाइश नहीं रही। अब आपकी टॉक सुनेंगे, फिर कोई लिखने योग्य बात लगी तो लिखेंगे।

योर्स
पी॰ए॰ टू द प्राइवेट सेक्रेटरी ऑफ़ श्री डी॰के॰ त्यागी

दुष्यन्त को मैं अकसर योजना कुमार कहता था। जब भी मिलो, एक न एक योजना उसकी तैयार मिलती। इस बार बाक़ायदा मध्य प्रदेश, शिक्षा समिति के लेटरहैड पर पत्र क्रमांक 7, दिनांक 15 मई, 1967 का मुलाहिज़ा फरमाएँ :

(16)

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा एक प्यारा-सा पत्र मिला था, जिसका उत्तर विलंब से दे रहा हूँ। उस बारे में मुझे सिवाय इसके कुछ नहीं कहना कि तुम जितने निकट हो, उतने ही रहोगे, भले ही मिलने के अंतराल की अवधि 50 वर्ष हो···दूसरी बात कहनी थी। जुलाई से यहाँ एक डिग्री कॉलेज—रवीन्द्र डिग्री कॉलेज—खोल रहा हूँ। यूनिवर्सिटी से एफ़िलिएशन की बात हो गई है। अरविन्द कॉलेज समाप्त हो रहा है। यदि स्ट्रेंथ

500 लड़कों की हो गई तो मैं प्रो॰ धनंजय वर्मा को प्रिंसिपल बनाकर बुलवाना चाहता हूँ। शिक्षा सचिव से उन्हें डेप्यूटेशन पर लेने का निवेदन करेंगे। सवाल यह है कि श्री वर्मा प्रिंसिपल के लिए क्वालीफ़ाइड भी हैं या नहीं? यह लिखें। संविधान के अनुसार कॉलिज का कर्ता-धर्ता सेक्रेटरी होता है और एक्ज़ीक्यूटिव भी, जिसके सदस्यों में सुप्रसिद्ध उपन्यासकार शानी भी हैं···मुझे इस विषय में अपनी राय फ़ौरन लिखो और कुछ उपदेश भी। मुदर्रिसी उपदेश नहीं, दोस्ताना सलाह—इसको छोड़कर कि 'इस चक्कर में मत फँसो' क्योंकि अव तो फँस गया और यूनिवर्सिटी की संवद्धता फ़ीस भी भेज चुका। बच्चों को प्यार। अम्माँ को प्रणाम। भाभी को नमस्कार।

तुम्हारा

दुष्यन्त

ज़ाहिर है, अन्य अनेक योजनाओं की तरह इसका भी वही हश्र हुआ। अपने मित्र के मातहत काम करने से बचने के लिए मैंने आचार्य पद स्वीकार करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए क्षमा माँग ली। रवीन्द्र कॉलेज खुला ज़रूर, लेकिन फिर उसकी बागडोर किसी और ने थाम ली···इस अगले पत्र पर तिथि नहीं है। मैंने इसका जवाब 19 जुलाई को दिया, लेकिन सन् मैंने भी नहीं लिखा। उपन्यास के ज़िक्र से लगता है कि यह सन् 1968 या 1969 का होना चाहिए।

(17)

प्रिय धनंजय,

तुम्हारे समाचार मिले। शानी की बधिया बैठ गई है। अपनी बैठी हुई थी, सो उठ खड़ी होने की मुद्रा में है। तुम्हारी सूचना के लिए कि इस बीच एक बड़ा ज़बरदस्त उपन्यास मैंने लिख मारा है। ज़बरदस्त इन मायनों में कि छोटा होते हुए भी पावरफुल है। तुम पढ़ोगे तो चरणों में आ पड़ोगे। आशा है, तुम पढ़ोगे और पड़ोगे···अम्माँ को प्रणाम। बच्चों को प्यार।

सस्नेह

दुष्यन्त

यह एक बड़ा ज़बरदस्त उपन्यास है—'आँगन में एक वृक्ष' ···एक लंबे अंतराल के बाद सन् 1969 के लगभग अंत में मेरी दूसरी पुस्तक 'आस्वाद के धरातल' प्रकाशित हुई। यह मैंने अपने गुरु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी की स्मृति में समर्पित की थी। इसकी दो प्रतियाँ : शानी और दुष्यन्त के नाम मैंने भिजवाई थीं। दुष्यन्त ने पुस्तक की प्रति मिलते ही लगभग तुरंत यह पत्र लिखा :

(18)

6918, साउथ, भोपाल
7 जनवरी, 1970

प्रिय प्यारेलाल,

एक ख़ूबसूरत और बढ़िया किताब के लिए बधाई। क़ायदे से छपी और ढंग से लिखी गई समीक्षात्मक पुस्तकें अपने यहाँ हैं ही कहाँ? अब तुम अगली क़तार में, आलोचकों की, कुर्सी डालकर बैठ गए और तुम्हें उखाड़ना नामुमकिन है। मेरी सारी गालियों, बद्दुआओं और भविष्यवाणियों का निहितार्थ यही था कि तुम अपने आलस्य से उबरकर पुस्तक छपा लो। फुटकर लेखों से तात्कालिक हवा तो बँधती है, पर वह ज़्यादा दिनों तक टिकती नहीं। हाँ, तुम्हारी किताब का समर्पण मुझे बहुत ही प्रिय और सच्चा लगा, विशेषतः अब···मेरे प्रकाशक ने मेरी भूमिका और समर्पण आदि की सामग्री में देर होते देख, नंगी किताब आउट कर दी, हालाँकि उसमें नुक़सान तुम्हारा और शानी का ही हुआ। यह कल मिली। बहरहाल, तुम्हारी राय तो चाहूँगा ही, फ़ौरन। अम्माँ और भाभी को प्रणाम। मनीषा और ठाकुर मानसिंह (अजय) व छोटे बच्चों को प्यार··

तुम्हारा
दुष्यन्त

शानी को पुस्तक दे दी। वह बहुत ख़ुश था। उज्जैन की मिसअंडरस्टैंडिंग पर दुखी था। शानी का भी उपन्यास आ रहा है। योजना ये है कि तीनों दोस्तों की पुस्तकों को एक साथ भोपाल में सेलीब्रेट किया जाए, तुम्हें आना पड़ेगा।

उज्जैन के कालिदास समारोह में हम तीनों इकट्ठे हुए थे। वहाँ शानी की किसी बेजा बात पर मेरा उससे विवाद हो गया था और फिर लगभग एक तनाव में हम लोग वापस आ गए थे···इस अगले पत्र पर फिर तारीख़ नहीं है, लेकिन भोपाल डाकघर की सील 21 जनवरी, 1970 की है।

(19)

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र मिला। शानी ख़ुद उस विषय पर दुखी था, तुम्हारा ख़त पढ़कर और दुखा। बहरहाल, जब तुम्हें लिखा जाए, तुम्हें आना है, यह निश्चय हम दोनों ने किया है। दूसरा निश्चय सुनो। तुम्हारी कहानी वाली किताब की बातचीत हमने और ख़ास तौर पर मैंने श्री नर्मदा प्रसाद खरे से कर ली है, वह तुम्हारी कोई किताब चाहते हैं, अतः कोई कारण नहीं कि तुम उन्हें पुस्तक न दो। लिहाज़ा इस पत्र का उत्तर उन्हें तो दोगे ही, मुझे भी दोगे या शानी को। अभी राजेन्द्र यादव आया था।

तुम्हें याद कर रहा था। मेरे उपन्यास पर विस्तार से मिलने पर बातें होंगी। वह ज़रा सूक्ष्म चीज़ है। तुम्हें समझाना पड़ेगा तब कहीं वे मोती तुम्हारे हाथ लगेंगे जो उस छोटे-से कलेवर में छिपे हैं···राजो यहाँ नहीं है। फ़रवरी में आएगी।

सस्नेह
दुष्यन्त

मेरी जिस कहानी वाली किताब का ज़िक्र है, वह फिर लोक चेतना प्रकाशन, जिसके मालिक श्री नर्मदा प्रसाद खरे थे, से नहीं छप पाई। दरअसल, वह कहानी-आलोचना पर किताब थी जो अंततः 1968 में प्रकाशित हो पाई। बहरहाल, अगले पत्र पर तारीख़ तो है 31 मार्च की, लेकिन भोपाल पोस्ट ऑफ़िस की सील के अनुसार यह पता चला है—1 अप्रैल, 1971 को। यह दो पुराने दोस्तों के बीच तनातनी की शुरुआत का दस्तावेज़ भी है :

(20)

31 जुलाई

प्रिय धनंजय,

पत्र मिला। इससे ज़्यादा ख़ुशी की बात क्या हो सकती है कि तुम्हारी पुस्तक पर लिखूँ, पर बात वही है, और मैं समझता हूँ कि लोग उसे अदरवाइज़ ही लेंगे। लें···

शानी भाषा विभाग में एडीटर की पोस्ट पर आ गया है। दिमाग़ तो ख़राब था ही, अब मिजाज़ भी ख़राब हो गया है। हर तीसरे दिन मुझे पेलता रहता है—कभी तुनकता है, कभी टिनकता है। बहुत ख़ूबियों का, बहुत अफेक्शनेट होते हुए भी उसे इंफ़ीरियरिटी कॉम्पलेक्स ने आदमी से अजूबा बनाकर रख दिया है। तुम होते तो उसकी सेवा करके उसे म्यान में ले आते। मैं जब धुनकता हूँ तो साला रो पड़ता है और मुझे उसके रुदन से तकलीफ़ होती है···इस अंक के 'धर्मयुग' और 'साप्ताहिक हिंदुस्तान' में तीन-तीन कविताएँ भिन्न-भिन्न क़िस्म की छपी हैं। पढ़कर लिखना, कौन-सी पसंद आई···भाभी को नमस्ते, अम्माँ को प्रणाम, बच्चों को प्यार···

तुम्हारा
दुष्यन्त

जहाँ तक मेरी पुस्तक पर लिखने की बात है, दुष्यन्त ने ही क्या मेरे किसी मित्र ने कभी कुछ नहीं लिखा। तर्क वही कि लोग उसे अदरवाइज़ लेंगे। हालाँकि लगभग हर दोस्त ने चाहा ज़रूर कि मैं उनकी किताबों पर लिखूँ, मैंने लिखा भी, यहाँ तक कि दोस्तों पर लिखने के लिए बदनाम तक किया गया। चाहता तो मैं

भी कह सकता था कि मेरे लिखने को लोग 'अदरवाइज़' लेंगे। बहरहाल, शानी और दुष्यन्त के बीच तनातनी की एक ख़ास वजह थी। मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद, जो बाद को मध्य प्रदेश साहित्य परिषद और अब मध्य प्रदेश साहित्य अकादेमी हो गई है, पहले भाषा विभाग की ही एक अंग शाखा थी। भाषा विभाग का संचालक ही उसका पदेन सचिव होता था। डॉ. शुकदेव दुबे जब उसके संचालक थे, तब दुष्यन्त उसमें सहायक-संचालक था और शानी संपादक हो गया था। दोनों ने मिलकर प्रशासकीय स्तर पर परिषद के पूर्णकालिक सचिव का एक स्वतंत्र पद निर्मित करवाया और उस पर अपने-अपने दावे पेश किए। तत्कालीन सचिव सामान्य प्रशासन विभाग से अपने संपर्क और संबंध के कारण, इस कलह में, शानी ने बाज़ी मार ली और फिर दोनों के बीच कटुता बढ़ती चली गई। लेकिन यह बाद की बात है, इस ख़त की इबारत तो उसकी इब्तिदा है···

(21)

13 सितंबर, 1971

प्रिय धनंजय,

परसाई पर तुम्हारा बहुत ख़ूबसूरत लेख पढ़ा। दरअसल परसाई इतना बल्कि कुछ और ज़्यादा डिज़र्व करते हैं। अभी 'धर्मयुग' में रूसी संधि पर शरद जोशी का भी व्यंग्य लेख पढ़ा। तुम्हारे लेख और कॉम्प्लीमेंट्स का बड़ा वाजिब औचित्य और व्यंग्यकारों की रचनाएँ प्रस्तुत करती हैं।

तुम्हारा
दुष्यन्त

एक-दूसरे का लेखन या रचना पढ़कर तुरंत उसके बारे में राय ज़ाहिर करने और पत्र लिखने की यह आदत अब दोस्तों में भी लगभग ख़त्म होती जा रही है। इस मामले में दुष्यन्त ख़ासा चुस्त-दुरुस्त था···अगला ख़त मेरे रचनात्मक गद्य, जिसे 'ज्ञानोदय' संपादक श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन 'रम्य रचना' कहते थे, के संकलन 'अँधेरा नगर' के बारे में है। अच्छी-ख़ासी खिंचाई के साथ थोड़ी तारीफ़ भी है। जिस अंतर्देशीय पत्र का इसमें ज़िक्र है, वह मुझे फिर कभी नहीं मिला।

(22)

भोपाल
18.3.1972

प्रिय धनंजय,

पत्र मिला। तुम्हारी गालियाँ वाजिब हैं, अगर ख़त न मिले तो। लेकिन मैंने तो लगभग 15 दिन हुए, तुम्हें एक पूरा अंतर्देशीय पत्र लिखा है और उसमें बड़ी

मेहनत से चार-छह वाक्य ढूँढ़कर उद्‌धृत किए हैं—सिर्फ़ यह निवेदन करने के लिए कि निबंधों की भाषा को तो समझने लायक रहने दो। वैसे मज़ाक़ से हटकर, कई जगह मुझे कविता की अनुभूति हुई। तुम जैसे बाहर से क्रूर, कठोर दिखने वाले व्यक्ति का आभ्यंतर कोई देखना चाहे तो इन निबंधों को ज़रूर पढ़े। इनसे साहित्य में कोई क्रांति चाहे न हो, लोगों की झिझक ज़रूर खुलेगी⋯प्यार के साथ,

तेरा

दुष्यन्त

जो दोस्त आम तौर पर छूट, गाली-गलौज से बात करे और ख़तो-किताबत में भी उनका धड़ल्ले से इस्तेमाल करे, उससे इतनी शरीफ़ भाषा और शाइस्ता ज़बान थोड़ी चौंका देने वाली तो है ही।

(23)

30 मार्च, 1972

प्रिय धनंजय,

तुम्हारा पत्र मिला। दरअसल मेरी राय 'अँधेरा नगर' के बारे में उतनी ही नहीं है जितनी उस पत्र में लिखी है। इसलिए अगर तुम उपयोग करना चाहो तो मेरी राय उससे कहीं बेहतर है। मैं तो इस डर से ज़्यादा तारीफ़ नहीं करता कि कहीं तेरा दिमाग़ ख़राब न हो जाए। अभी तू अपने आपको ही ख़लीफ़ा समझता है, ज़्यादा तारीफ़ पा के ज़रूर अफ़लातून बन जाएगा⋯परसों यहाँ कुछ बड़े-बड़े अफ़सरों के बीच मैंने तेरा बड़ा रुतबा ताना। रामचन्द्र शुक्ल को छोड़कर सारे आधुनिक आलोचकों की (विद् स्पेश्यल रेफ़रेंस टू नामवर सिंह, द अकादेमी अवॉर्ड विनर ऑव द ईयर) ऐसी-तैसी करते हुए यह सिद्ध कर दिया कि श्री धनंजय वर्मा तत्काल यूनिवर्सिटी में प्रोफ़ेसर बनाए जाएँ। ये सीनियरिटी किस बकवास का नाम है? इस हिसाब से तो कभी घोड़ा भी गधे से आगे नहीं निकल सकता। अभी केवल एक बात रही है, ज़मीन तैयार हुई है, कल ज़रूर इस पर कोई इमारत खड़ी होगी। देखना⋯

इधर मैंने कुछ गीत और ग़ज़ल कही हैं। छपें तो देखना।

बच्चों को प्यार। अम्माँ को प्रणाम⋯

तुम्हारा

दुष्यन्त

दुष्यन्त का पत्र भोपाल म्यूनिसिपल्टी द्वारा 500 रुपए के पुरस्कार के संदर्भ में

मैं भोपाल म्यूनिसिपल्टी का बड़ा आभारी हूँ कि उसने मुझे 500 रु॰ का पुरस्कार देने का फ़ैसला किया है। अगर ये फ़ैसला एकतरफ़ा है, (क्योंकि मैंने कभी इस पुरस्कार के लिए अपनी किताबें या दरखास्त नहीं भेजी) फिर भी मैं इसे मान लेता, अगर मुझे इस बात का भरोसा होता कि यह पुरस्कार सचमुच मेरी साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में दिया जा रहा है। लेकिन साहित्यिक सेवाओं के उपलक्ष्य में पुरस्कार वही दे सकता है जो साहित्य समझता हो और मैं जानता हूँ कि म्यूनिसिपल्टी के निर्णायकों ने न मेरी पुस्तकें पढ़ी हैं और न उनमें साहित्य की समझ है। पिछले पुरस्कारों से यह बात मेरे लिए साफ़ हो चुकी है कि म्यूनिसिपल्टी राजनीतिक या स्थानीय प्रभावों से कुछ तथाकथित स्वनामधन्य साहित्यकारों को 500 रु॰ देकर उपकृत करने के लिए यह सारा नाटक रचा करती है। इस नाटक को वास्तविकता का रूप देने के लिए वह मजबूरन दो-एक सचमुच के लेखकों को भी इसमें पकड़ लेती है।

इस बार हितैषियों की कृपा से मैं पकड़ा गया हूँ—मगर मैं नहीं चाहता कि मैं किसी भूल को बुद्धिमानी सिद्ध करने के घटिया प्रयत्न का माध्यम बनूँ। दूसरी बुनियादी बात यह है कि जो म्यूनिसिपल्टी शहर की गंदगी दूर नहीं कर सकती, नागरिकों को सामान्य सुविधाएँ नहीं दे सकती और अपने कर्तव्य क्षेत्र के दूसरे महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं कर सकती, उसे नैतिक रूप से यह अधिकार नहीं है कि वह जनता का पैसा फ़ालतू कामों में फूँकती फिरे।

साहित्य म्यूनिसिपल्टी के क्षेत्राधिकार में नहीं आता और न साहित्यकार की दृष्टि ही नगर-विशेष तक सीमित होती है। फिर भी अगर म्यूनिसिपल्टी के पास ज़्यादा पैसा है तो उसे चाहिए कि वह विशिष्ट सेवाओं वाले मेहतरों को पुरस्कृत करे और साथ ही नगर के उन राजनीतिक तथा सामाजिक कार्यकर्ताओं को पुरस्कृत करे जो शहर के सांस्कृतिक और सामाजिक वातावरण पर प्रत्यक्ष प्रभाव डालते हैं।

म्यूनिसिपल्टी की ओर से मेरा सबसे बड़ा पुरस्कार यह होगा कि वह मेरे घर की बगल में जमा कूड़े और गंदगी के ढेर को हटवा दे और यह घोषित करा दे कि मैंने पुरस्कार के लिए न कभी आवेदन किया, न प्रयत्न। और इस सबके बाद भी अगर वह रुपया देना ही चाहे तो मेरी ओर से यह चैक प्रधानमंत्री फ़ंड में उड़ीसा के अकालग्रस्त क्षेत्रों के लिए भेज दे।

दुष्यन्त कुमार त्यागी

पत्र-शैली में व्यंग्य-लेख

मध्य प्रदेश के मौसम की रपट[1]

प्यारे रमेश!

तुम्हारा पत्र मिला। भगवान् तुम्हारी उम्र दराज़ करे। तुम अकेले संपादक हो जो मुझे व्यंग्य के लिए चिट्ठी-चपाती लिख देते हो। राजनीति, राजनेता और बजट जैसे कुछ विषय सुझा देते हो। मगर प्यारे दोस्त, मैं इन्हें छूने वाला नहीं। तुम अच्छी तरह जानते हो कि मैं सरकारी नौकर हूँ। मेरे दिन मज़े में कट रहे हैं। नौकरों के लिए आदेश है कि वे मज़े में रहें।

दरअसल सरकारी नौकरों को लिखना नहीं चाहिए, क्योंकि सोचना उनका काम नहीं है। यह काम आला अफ़सरों और मंत्रियों का है। लेकिन हाँ, वह यदि चाहे तो शासकीय ढंग से सोच सकता है।

दो-तीन साल पहले एक लेख में थोड़ी-सी राजनीति आ गई थी। वह जाने कैसे एक राजनेता ने पढ़ लिया। फिर इत्तिफ़ाक से वह राजनेता शासन में आ गया। नतीजा यह हुआ कि डेढ़ साल सस्पेंड रखा। बुलाकर कहा—अब लिखो, जितना लिखना है। शासकीय सेवा में नहीं लिख सकते।

इसलिए मैं सोचता हूँ, मैं क्यों लिखूँ? लिखने का सीधा ताल्लुक सोचने से है। और सोचने का कोई ताल्लुक छोटे सरकारी अफ़सर से नहीं है, यह काम आला अफ़सर और मंत्रियों का है। हाँ, इतनी छूट मुझे है कि मैं नारी या मौसम के सौंदर्य पर लिख-बोल सकता हूँ। सो सबसे निरापद समझकर मैं मौसम पर लिख रहा हूँ।

मौसम : सामयिक रूप से ख़राब

यों सरकारी नौकर मौसम से प्रभावित नहीं होता। वर्षा हो या घाम, लू हो या शीत, वह केवल फ़ाइलों से प्रभावित होता है, लेकिन मैं इस वर्षा ऋतु से भी प्रभावित हो रहा हूँ। दरअसल मेरे मंत्री अभी विदेश-यात्रा से लौटे हैं। उनके मुँह में, मुझे मालूम है, उनके संस्मरण कुलबुला रहे होंगे। वे ज़रूर मुझे याद कर रहे होंगे।

---

1. रमेश बक्षी, संपादक : ज्ञानोदय—कलकत्ता (प० बंगाल)
(वर्षा ऋतु में लिखा गया है यह लेख)

बहुत-सी बातें ऐसी होती हैं कि वे बड़े अफ़सरों से नहीं कही जातीं, केवल छोटे अफ़सरों को ही बताई जाती हैं। जैसे उनके भाषण से वहाँ की जनता और वहाँ के बुद्धिजीवियों पर क्या असर पड़ा? वहाँ के राजनेताओं ने उन्हें किस प्रकार हाथों-हाथ लिया? रेडियो-टेलीविज़न पर उनका कितना धूम-धड़ाका हुआ? वहाँ उन्हें कितनी इज़्ज़त दी गई? ये सब बातें ऐसी हैं जो राजनेताओं या अफ़सरों को बताना पसंद नहीं करते।

पिछली बार वे एक अन्य प्रदेश के दौरे से लौटे तो उन्होंने कुछ ग्रुप फ़ोटो भी दिखलाए थे। मुझे विश्वास में लिया था और कुछ ऐसी बातें भी बतलाई थीं कि मेरी आँखें अचरज से फैलती चली गईं। शायद कुछ ज़्यादा ही फैल गईं। उन्हें वह मुद्रा भा गई। बस, तब से वह मुझे बहुत चाहने लगे हैं।

अब बारिश की वजह से मैं जा नहीं पा रहा हूँ। मेरा प्रमोशन का केस उनके यहाँ पड़ा है। अगर बारिश नहीं रुकी तो टैक्सी लेकर जाऊँगा। संस्मरण जो सुनने हैं। संस्मरण अनंत काल तक इंतज़ार नहीं कर सकते। वे बाहर आने के लिए छटपटा रहे होंगे। वैसे मुझे मालूम है कि मंत्री जी क्या कहेंगे? मुझे भी मालूम है कि मैं क्या कहूँगा। लेकिन इसके अलावा कुछ ऐसा भी है जो न मैं कहूँगा, न वे; बल्कि मुद्राएँ कहेंगी। जैसे कहीं मेरी आँखें फटी की फटी रह जाएँगी कि इतनी महान् प्रतिभा और हमारे प्रदेश में! कहीं मेरे माथे पर बल पड़ जाएँगे। कहीं मैं हाथ मलने लगूँगा कि काश! लोग आपको समझ पाते और कहीं मेरी पोर-पोर से चूने लगेगी कि उफ़, क्या मार्मिक विवरण है और इस सबके माध्यम से कहीं मैं यह संकेतित करता चलूँगा कि मेरी फ़ाइल आपके यहाँ पड़ी है। मैं दस वर्ष से इसी पोस्ट पर पड़ा हूँ। मेरा उद्धार कीजिए। मुझे विश्वास है, मौसम सुधरते ही मेरी स्थिति सुधर जाएगी।

कार्यालयीन मौसम : वाद-ए-रुतबा

कार्यालय के एतबार से मौसम बुरा नहीं। डायरेक्टर को ज़ुकाम है और मैं उनके पास बैठा रहता हूँ। जिन दिनों हमारे डायरेक्टर नाक में काग़ज़ की बत्ती डालकर छींकते हैं, उन्हें ज़ुकाम नहीं होता। ज़ुकाम नहीं होता तो दफ़्तर में अमन-चैन रहता है। जब उन्हें ज़ुकाम हो जाता है तो कार्यालय में इसका प्रभाव कई स्तरों पर पड़ता है। जैसे वे सन् '31 का बना हुआ कॉलरदार कोट निकाल लेते हैं और कमरे के परदों को रूमाल, तौलिए और नेपकिन की हैसियत से इस्तेमाल करने लगते हैं। लिहाज़ा दफ़्तर में धुलाई का व्यय और कर्मचारियों में आतंक का भाव बढ़ जाता है। मान लिया जाता है कि दो-एक बाबू चेतावनी पाएँगे और दो-एक अफ़सर डाँट खाएँगे। ऐसे मौसम में मैं डायरेक्टर के पास खिसक ज़ाता हूँ और उन्हें अपने मंत्री जी के संस्मरण सुनाने लगता हूँ। उनमें भी सबसे ज़्यादा संस्मरण मंत्राणी जी के पाक-कौशल के होते हैं कि इतने बड़े आदमी की पत्नी इतना बढ़िया भोजन कैसे बना लेती है?

आशय यह होता है कि भाई, तुम्हें ज़ुकाम है, तुम दो-चार को बत्ती दिए बिना बाज नहीं आओगे, मगर मुझे बख़्शना! कभी लेने के देने न पड़ जाएँ।

डायरेक्टर का नज़ला इधर-उधर उतर रहा है''क्योंकि मैं लगातार उन्हें मंत्री जी के यहाँ न पहुँच पाने की विवशता का अनुभव करा रहा हूँ।

आज तो ख़ैर मंत्री जी के पी॰ए॰ का फ़ोन भी आ गया कि साहब ने बुलाया है।

राजनीतिक मौसम

बहुत गर्म है। गर्मी इतनी ज़्यादा है कि मुख्यमंत्री जी यहाँ टिक ही नहीं पाते। पत्रकार कहते हैं कि अगर भोपाल दिल्ली के बीच में न होता तो मुख्यमंत्री यहाँ आते ही नहीं और रायपुर जाते हुए पहुँचते हैं तो लोग पूछते हैं, माननीय! कितने दिन के दौरे पर भोपाल आए हैं?

लोग ये भी पूछते हैं कि मुख्यमंत्री सोते कब हैं? मैं ख़ुद नहीं जानता। लगता है इतने गर्म मौसम में नींद कम आती है। एक बार उनके निवास पर तीसरे पहर गया था। एक साहब से मुलाक़ात हुई। बगल में एक पोटली दबाए थे। पूछने पर मालूम हुआ कि दोपहर का खा चुके हैं—शाम का खाना लिए हैं। पी॰ए॰ ने आश्वासन दिया है कि रात तीन बजे तक मुलाक़ात हो जाएगी। मैं घबराकर चला आया। मगर मालूम हुआ कि रात की गाड़ी से मुख्यमंत्री भी दिल्ली चले गए।

इधर मंत्रिमंडल छोटा करने की ख़बर से भी वातावरण में गर्मी है। नए उम्मीदवार पुराने मंत्रियों को घूर रहे हैं।

संभावित रचनाकाल : 1969-70, श्यामाचरण शुक्ल का मुख्यमंत्रित्व काल

'एक-से मकानों का नगर' के लेखक को पत्र

तुम्हारा कहानी-संग्रह 'एक-से मकानों का नगर' पढ़ लिया है और उस पर यह ख़त लिख रहा हूँ।

यों किताब के बारे में तुमसे रू-ब-रू बातें की जा सकती थीं। जानता हूँ कि कठोर से कठोर आलोचना करने और सहने का साहस मुझमें और तुममें है। लेकिन बातें मन की सारी सतहों को तोड़ नहीं पातीं। अकसर उनमें से बहुत-सी व्यक्तित्व की बाहरी पर्तों में उलझकर रह जाती हैं। इसीलिए···

और इसलिए भी कि मैं अपनी तकलीफ़ तुम्हारे भीतर तक उतारना चाहता हूँ। मैंने नई कहानी के अहाते से कई अफ़लातूनों के जनाज़े निकलते देखे हैं। मैंने यह देखा है कि जो कहानीकार बड़े-से बाजे-गाजों के साथ आए थे, आज उनका कोई नाम लेवा और पानी देवा तक नहीं बचा। अब साहित्य के पन्नों में आज उनकी तलाश करनी पड़ती है कि वे कहाँ गए? और यह एक पाठक के नाते मेरे लिए काफ़ी तकलीफ़ का वायस है। इस बात की मुझे ख़ुशी है कि तुम इस भीड़ में अभी तक खोए नहीं हो। तुम्हारी कहानियाँ, तुम्हारी अपनी शिनाख़्त हैं।

अजीब इत्तिफ़ाक है कि राकेश और कमलेश्वर के बाद तुम ही एकमात्र ऐसे लेखक हो जिसके पास कहानी के सारे उपकरण मौजूद हैं। वह दृष्टि भी है जो चीज़ों के आर-पार झाँकती है। इस बात से तुम ख़ुश मत होना··क्योंकि तुम्हारे संदर्भ में यह उपलब्धि मेरी अपेक्षाओं से बहुत कम है। नए, बिलकुल नए लेखकों के लिए अलग से शिनाख़्त किए जाना—हो सकता है, एक गर्व की बात हो और यह भी हो सकता है कि वे इस तरह की रचनाओं का सिलसिला, अपने स्थापित होने तक जारी रखें। लेकिन जिसका रचनाकाल बीस वर्ष की अवधि में फैला हो—वह लेखक भी यदि जाने-अनजाने की समस्या से जूझता रहे तो अफ़सोस होता है, क्योंकि कहानी का सार और उसके अर्थ का विस्तार अपरिचित होता है और वह रचनाकार की शिनाख़्त नहीं सामर्थ्य का परिचय देती है।

अजीब इत्तिफ़ाक है कि कमलेश्वर-राकेश आदि के बार-बार दोहराए जाने वाले नामों के बाद तुझ पर ही उम्मीदें ठहरती हैं। इसलिए नहीं कि तुम्हारा नया संग्रह 'एक-से मकानों का नगर' कोई लाजवाब कहानियों का संग्रह है, बल्कि इसलिए कि उसमें और प्रकारांतर से तुम्हारे पास कहानी के सारे अनिवार्य उपकरण मौजूद हैं जो चीज़ों के आर-पार झाँकते हैं, और वह संवेदनशीलता भी जो दृश्य को अनुभवगम्य

बनाती है। वह भावना भी है जो वस्तुओं, व्यक्तियों या स्थितियों में सतह-दर-सतह उतरती जाती है और वह भाषा भी जो रंगों की तरह निश्चित और पर्यायहीन होती है। इसके अलावा लेखक के लवाज़मात भी हैं और अदाएँ भी। कलात्मक डिटेल्स और शब्दों से स्थिति उभारने में, निर्मल वर्मा के बाद तुम्हारा जवाब नहीं और पात्रों के अंतर्द्वंद्व उभारने में सिर्फ़ राजेन्द्र यादव ही तुम्हारा मुक़ाबला करता है। लेकिन जहाँ यादव से लेकर राम अरोड़ा तक अपने जीवन की सर्वश्रेष्ठ कहानी लिख चुके या लिख रहे हैं, वहाँ तुम अभी तक अपनी आइडेंटिटी जतलाने में लगे हो।

क़ायदे से अब तक तुम्हारी कम से कम पाँच ऐसी कहानियाँ आ जानी चाहिए थीं जो हिंदी में 'राजा निरबंसिया', 'डिप्टी कलेक्टरी', 'परिंदे', 'जानवर और जानवर', 'जहाँ लक्ष्मी क़ैद है', 'गुलकी बन्नो' इत्यादि कहानियों की तरह याद रखी जातीं। लेकिन तुम्हारा यह संग्रह 'एक-से मकानों...' भी, जो शायद तुम्हारा चौथा संग्रह है, तुम्हारे ही पूर्व-निर्मित दायरे को तोड़कर आगे नहीं बढ़ पाना मेरे लिए अचरज का विषय है। पाठक इस संग्रह में भले ही गहरा न डूबे, लेकिन वह इससे ऊब नहीं सकता। यह तुम्हारी संभावनाओं का अहसास कराता है और कई नाज़ुकतरीन ख़यालात को कविता की-सी हुनरमंदी के साथ पाठक के लिए पेश करता है।

मुझे लगता है, आइडेंटिटी के मोह ने ही तुम्हें शिल्प के प्रति अत्यधिक सजग बना दिया है और अब कलात्मकता का आग्रह ही अकेला वह बैरियर है जो तुम्हें समय के क्षेत्र में घुसने से रोकता है। ऐसा नहीं है कि तुम्हारी कहानियों में यादव की तरह ज़िंदगी की धड़कनों का अभाव हो, पर जैसे तुम ज़िंदगी को जिस सेक्स के नज़रिए से देखते हो, वह दरअसल किसी मकान को पिछवाड़े से देखना है। मैं यह नहीं कहता कि मकान पिछवाड़े से मकान नहीं होता, लेकिन यह ज़रूर कहूँगा कि पीछे से मकान की भव्य आकृति और उसके निर्माण में लगे अकूत श्रम और अर्थ का ठीक-ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता।

इसीलिए तुमने अभी तक वह कहानी नहीं लिखी जो तुम्हें अपने समय से जोड़ दे। तुम अपने व्यक्तित्व के अवांतर प्रसंगों में उलझे रहे और समय और समाज की खाई को पाटने की कोशिश नहीं की।

तुमने चुनौतियों को व्यवहार के स्तर पर झेलकर इसलिए नज़रअंदाज़ कर दिया, क्योंकि तुम एक सहज रास्ता चाहते थे, सुगम गीत। इसलिए जहाँ भी संघर्ष, चुनौतियाँ और पीड़ाएँ दिखीं, तुम मुँह फेरकर दूसरी ओर हो लिए। तुमने हमेशा साहित्य में विपक्ष से पीड़ाओं को देखा और भोगा है। कितना अजीब इत्तिफ़ाक है कि जिस आदमी की ज़िंदगी संघर्ष के धधकते हुए क्षणों से गुज़री हो, वह अस्तित्व की जद्दोजहद से ज़्यादा, कहीं ज़्यादा महत्त्व सेक्स की जद्दोजहद को देता है।

तुम इस बात का अकसर बुरा मान जाते हो...लेकिन मैं इस सच्चाई को दुहरा-तिहराकर तुम्हारे सामने रखना चाहता हूँ कि तुम तल्ख़ी और संघर्ष से बचते

हो। तुम्हारी रचनाओं में तनाव की जितनी भी स्थितियाँ हैं, वे सेक्स या उसकी कुंठाओं को लेकर ही हैं, जीवन की अन्य बुनियादी समस्याओं को लेकर नहीं…! तुम्हारा तर्क कि सेक्स भी एक बुनियादी समस्या है…अपने मन को सांत्वना देने की हद तक काम करता है।

इस पलायन-प्रवृत्ति को जानदार साबित करने के लिए तुम शिल्प की नाकाबंदी करते हो। सड़े-सड़े ख़याल और बड़ी बोसीदा-सी समस्याओं को तुम इतने ख़ूबसूरत शब्दों, बिंबों और स्थितियों का लिबास पहनाते हो कि देखकर ताज्जुब होता है। सोचता हूँ, अगर एक तड़पते हुए-से ख़याल पर तुम इतनी मेहनत कर दो…तो उसकी पहुँच या मार कितनी पैनी होगी।

मैं यह ख़त हर्गिज़ न लिखता और मुझे क्या ज़रूरत पड़ी थी कि उपदेश की हद तक नीचे आकर मैं प्रस्तावों की भाषा में बात करूँ…लेकिन मैं देखता हूँ कि जहाँ तुमने ज़िंदगी की तरफ़ हाथ बढ़ाया है, वहाँ कहानी एक धड़कता और साँसें लेता हुआ हिस्सा बन गई है…वह चाहे पत्थरों का तालाब हो या…, हो या…

माफ़ करना, तुम्हारी 'एक नाव का यात्री' भी, जिसकी मैं ख़ुद तारीफ़ कर चुका हूँ और जिसे अब भी कथा-दशक की श्रेष्ठ कहानियों में गिना जा सकता है…मेरे नज़दीक एक गढ़ी हुई कहानी है, एक विचार, एक सूत्र, एक नया नज़रिया, यह स्थितियों का विरोधाभास या व्यक्ति की किसी विषमता को उभारने के लिए सायास गढ़ी हुई रचनाएँ हैं। लिहाज़ा कथ्य उनमें से फूटता नहीं है, उसे तुम्हारे किसी प्रतीक या किसी बिंब की झाड़ी से खोज निकालना पड़ता है। अमरकान्त की कहानियों की तरह तुम्हारा कथ्य वस्त्र में से यौवन की तरह नहीं दिपता!

फिर क्या चीज़ है जो तुम्हें लेखक के स्तर से गिरने नहीं देता! क्या शिल्पगत कौशल? नहीं, वह है तुम्हारी संवेदनशील दृष्टि! वही है जिसका अनुकरण करती हुई लेखनी भाषा के स्तर पर ऊर्जा और…

यह अधूरा पत्र शानी के नाम

एक पत्र अमिताभ बच्चन के नाम

प्रिय अमित,

किसी फ़िल्म आर्टिस्ट को पहली बार ख़त लिख रहा हूँ और वह भी 'दीवार' जैसी फ़िल्म देखकर, जो भावुकता के फ़िल्मी शोषण, मानवीय करुणा और मनुष्य की सहज भावुकता का अंधाधुंध शोषण करती है।

तुम्हें याद नहीं होगा, इस नाम का एक नौजवान कवि इलाहाबाद में अक्सर बच्चन जी के पास आया करता था। तब तुम बहुत छोटे थे। उसके बाद दिल्ली के विलिंगडन क्रेसेंट वाले मकान में भी आना-जाना लगा रहा, पर तुम लोगों से संपर्क नहीं रहा। दरअसल कभी ज़रूरत ही महसूस नहीं की। मैं तो बच्चन जी की रचनाओं को ही उनकी संतानें माने हुए था। मुझे क्या पता था कि उनकी एक संतान का क़द सहसा इतना बड़ा हो जाएगा कि मैं उसे ख़त लिखूँगा और उसका फैन हो जाऊँगा।

इसी नए साल पर आदरणीय बच्चन जी ने सहज स्नेहवश अपने पूरे परिवार का फ़ोटोग्राफ़ भेजा था और वह फ़ोटो संयोग से मुझे उस दिन मिला जिस दिन 'अभिमान' में जया और अमिताभ के अभिनय की सीमाओं और संभावनाओं को लेकर ज़ोरदार बहस हो रही थी। तब मैंने अपने बेटे और बेटी को फ़ोटो दिखाते हुए निर्णय दिया कि संभावनाओं के लिहाज़ से सबसे ज़्यादा संभावना मुझे श्वेता में नज़र आती है। देखो, अभी से जया को चुनौती दे रही है।

तुमने 'दीवार' में इतना ज़बरदस्त अभिनय किया है कि वह अभिनय नहीं लगता। 'आनंद' वाली सहजता के साथ 'दीवार' में तुम्हारा आत्मविश्वास और उभरा है। यह आत्मविश्वास, कलाकर की बड़ी पूँजी होती है। केवल इसी पूँजी के बल पर शत्रुघ्न सिन्हा फ़िल्मों में जम गया। तुम्हारे पास इसके अलावा और भी कई गुण हैं, इसीलिए तो फ़िल्म देखते हुए शशी कपूर जैसा प्रतिभावान कलाकार तुम्हारे सामने बौना नज़र आ रहा था।

जया को मेरा स्नेह देना। शायद उसे याद हो कि जब वह छोटी थी तो भोपाल रेडियो का एक हिंदी प्रोड्यूसर उनके घर आया करता था। बच्चों को स्नेह। आदरणीया तेजी जी और बच्चन जी वहाँ हों तो उन्हें मेरा प्रणाम।

अनेक आशीर्वाद और मंगल कामनाओं सहित,

तुम्हारा
दुष्यन्त कुमार

टाइम्स ऑफ इंडिया के मैनेजर को पत्र

सेवा में,

मैनेजर
टाइम्स ऑफ़ इंडिया,
बहादुरशाह जफ़र रोड
नई दिल्ली

विषय : 'नवभारत टाइम्स' में सहायक संपादक के पद पर नियुक्ति

महोदय,

विश्वस्त रूप से ज्ञात हुआ है कि दैनिक 'नवभारत टाइम्स' में सहायक संपादक का एक पद निर्मित हुआ है। अतः उक्त पद के उम्मीदवार की हैसियत से मैं यह आवेदन-पत्र आपकी सेवा में भेज रहा हूँ।

मेरी शैक्षणिक योग्यताएँ और अनुभव आदि का विवरण निम्नानुसार है :

आयु : 39 वर्ष 6 माह

शिक्षा : एम॰ए॰ (हिंदी), द्वितीय श्रेणी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

पत्रकारिता का अनुभव

(क) दैनिक भारत, त्रैमासिक विहान, हंस, मासिक कलामंच, साप्ताहिक जाग्रति एवं पुकार आदि पत्र-पत्रिकाओं में उप-संपादक तथा संपादक के रूप में सामग्री-संपादन, अनुवाद तथा मुद्रण और प्रकाशन संबंधी लगभग 7 वर्ष का अनुभव।

(ख) स्थानीय दैनिक एवं साप्ताहिक पत्रों के अतिरिक्त धर्मयुग, साप्ताहिक हिंदुस्तान, कल्पना, ज्ञानोदय, माधुरी, लहर, त्रिपथगा, आजकल, सरिता आदि प्रमुख हिंदी पत्र-पत्रिकाओं के लिए यात्रा, जीवनी, संस्मरण, नाटक, इंटरव्यूज़, आलोचना और कविताएँ आदि लिखने का लगभग 15 वर्ष का अनुभव।

(ग) आकाशवाणी में हिंदी कार्यक्रमों के सहायक प्रोड्यूसर, ड्रामा एंड स्पोकन वर्ड के रूप में कला, साहित्य, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति आदि विविध विषयों पर वार्ताएँ, रूपक, परिसंवाद तथा प्रचार-सामग्री के आयोजन, लेखन, संकलन, संपादन एवं निर्देशन का लगभग 5 वर्ष का अनुभव, जिसमें प्रसारण एवं जन-संपर्क का अनुभव भी सम्मिलित है।

1973 का पत्र

(घ) मध्य प्रदेश में भाषा-विभाग के सहायक निदेशक के रूप में शासकीय कामकाज में हिंदी के प्रचार-प्रसार को प्रोत्साहन देने की दृष्टि से शासकीय नियमों, अधिनियमों, प्रतिवेदनों, प्रारूपों, संकल्पों तथा अन्य प्रशासकीय सामग्री के हिंदी में अनुवाद और प्रकाशन आदि की व्यवस्था का लगभग 10 वर्ष का अनुभव। साथ ही आदिवासियों की भाषा एवं संस्कृति के अनुसंधान अधिकारी के पद पर 2 वर्ष तक अनेक नृत्य, साहित्य, संगीत एवं चित्रकला आदि के अध्ययन, आकलन, प्रकाशन और प्रस्तुतिकरण का अनुभव।

(ङ) शासकीय स्तर पर उत्सवों, मेलों, समारोहों और प्रचार प्रदर्शनियों के आयोजन और संयोजन का दीर्घ अनुभव, जिसमें समाचार-पत्रों तथा समाचार एजेंसियों से घनिष्ठ संपर्क का अनुभव भी शामिल है।

साहित्यिक अनुभव

1. पत्रकारिता के साथ साहित्य में मेरी गहरी रुचि है। स्वातंत्र्योत्तर हिंदी लेखकों में मेरी रचनाओं की विशेष रूप से चर्चा हुई है। मेरी कुछ महत्त्वपूर्ण पुस्तकों के नाम हैं :

मौलिक

1. सूर्य का स्वागत (कविता-संग्रह)
2. आवाज़ों के घेरे (कविता-संग्रह)
3. जलते हुए वन का वसंत (कविता-संग्रह)
4. एक कंठ विषपायी (काव्य-नाटक)
5. आँगन में एक वृक्ष (उपन्यास)
6. छोटे-छोटे सवाल (उपन्यास)
7. नाटककार अश्क (आलोचना सहयोग से)
8. चेतन : एक अध्ययन (आलोचना सहयोग से)

अनूदित

1. रोम की नारी (उपन्यास मोराविया)
2. अन्ना केरेनिना (उपन्यास टॉलस्टॉय)
3. वैज्ञानिक-सामाजिक सर्वेक्षण और अनुसंधान (समाजशास्त्र)
4. कुछ फुटकर कविताएँ, कहानियाँ, नाटक और रेडियो-रूपक।

2. भारत के अनेक विश्वविद्यालयों में मेरी पुस्तकें (कविताएँ) बी.ए. तथा एम.ए. के पाठ्यक्रमों में निर्धारित हैं।

3. कुछ विश्वविद्यालयों में मेरे साहित्य पर स्नातकोत्तर विषय के रूप में शोध-कार्य भी हो रहा है। अनेक पी-एच.डी. उपाधि-ग्रंथों में मेरे संबंध में विस्तृत उल्लेख है

तथा स्वातंत्र्योत्तर साहित्य के संबंध में प्रकाशित समस्त आलोचनात्मक पुस्तकों में मेरे साहित्य की चर्चा हुई है।

4. अमेरिका, रूस, ब्रिटेन आदि देशों में मेरी रचनाएँ अनूदित हो चुकी हैं।

5. साहित्य अकादेमी द्वारा प्रकाशित 'हू इज़ हू ऑफ़ इंडियन राइटर्स' में मेरा नामोल्लेख है तथा मध्य प्रदेश और उत्तर प्रदेश से मेरी साहित्यिक सेवाएँ पुरस्कृत हुई हैं।

6. हिंदुस्तान टाइम्स और टाइम्स ऑफ़ इंडिया की समस्त हिंदी पत्र-पत्रिकाओं में मेरी कविताएँ, लेख और नाटक ससम्मान आमंत्रित और प्रकाशित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त आकाशवाणी के हिंदी केंद्रों से भी मेरी रचनाओं का प्रसारण होता रहता है।

अंत में यह उल्लेख प्रासंगिक न होगा कि पत्रकारिता मेरी पहली रुचि है। यही कारण है कि सुदीर्घ शासकीय सेवा का आकर्षण भी आज तक उसे अपवर्तित नहीं कर पाया। मुझे विश्वास है कि यदि आपने सहायक संपादक के उक्त पद पर मुझे कार्य करने का अवसर दिया तो मैं उक्त पद की अपेक्षाओं को संपूर्ण निष्ठा और ज़िम्मेदारी के साथ पूरा कर सकूँगा।

सहानुभूतिपूर्ण निर्णय की प्रतीक्षा में।

भवदीय

(दुष्यन्त कुमार)

69/8 साउथ टी॰टी॰ नगर

भोपाल, म॰प्र॰

भोपाल

दिनांक : 20-4-73

संलग्न :

1. प्रमाण-पत्रों एवं प्रशंसा-पत्रों की सत्य प्रतिलिपियाँ

इंदिरा जी के नाम एक ग़ज़ल

कहाँ तो तय था चिराग़ाँ हरेक घर के लिए।
कहाँ दिया भी मयस्सर नहीं शहर के लिए॥

यहाँ दरख़्तों के साये में धूप लगती है,
चलो यहाँ से चलें और उम्र-भर के लिए।

ख़ुदा नहीं, न सही, आदमी का ख़्वाब सही,
कोई हसीन नज़ारा तो है नज़र के लिए।

न हो कमीज़ तो पाँवों से पेट ढँक लेंगे,
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफ़र के लिए।

तेरा निज़ाम है, सिल दे ज़ुबान शायर की
ये एहतियात ज़रूरी है, इस बहर के लिए।

उन्हीं से पूछना फूलों का रंग कैसा है,
जिन्होंने उम्र गँवाई है, गुलमोहर के लिए।

वे मुतमइन हैं कि पत्थर पिघल नहीं सकता,
मैं बेक़रार हूँ आवाज़ में असर के लिए॥

दुष्यन्त कुमार
1975

‘धर्मयुग’ संपादक धर्मवीर भारती के नाम पत्र

69/8 साउथ टी० टी० नगर
भोपाल

आदरणीय भाई!

पत्र मिला। एक-एक पंक्ति से तकलीफ़ झलक रही है। मैं तीन-चार महीने पहले दिल्ली गया था। वहाँ बिशन टंडन से मिलने के लिए उनके दफ़्तर चला गया। भगवतीशरण सिंह भी वहाँ थे। आपके बारे में बहुत देर बातें होती रहीं। लौटते समय उसी दफ़्तर के हिंदी अधिकारी मुझे अपने कमरे में पकड़ ले गए। वहाँ मेज़ पर ‘कल्पना’ रखे थे। एक वह जिसमें आपकी कविता थी और दूसरी वह जिसमें नागार्जुन की थी। बड़ा दुःख व्यक्त कर रहे थे कि ये लोग ऐसा क्यों लिखते हैं। (आप समझ रहे हैं न कि किस Office की बात होगी!) अब मैं उन्हें क्या समझाता कि यदि भारती जी कसाई हैं तो उनकी फ़रियाद आप एक दूसरे कसाई से कर रहे हैं।

मैं तो लिख-लिखकर मेज़ की दराज़ भरता जा रहा हूँ। दो ताज़ा ग़ज़लें कही हैं :

1. जिस बात का ख़तरा था, सोचो के वो क्या होगी,
जरखेज़ ज़मीनों में बीमार फ़सल होगी।
तफ़सील में जाने से ऐसा तो नहीं लगता,
हालात के नक़्शे में अब रद्दोबदल होगी।
स्याही से इरादों की तस्वीर बनाते हो
गर ख़ूँ से बनाओ तो तस्वीर असल होगी।
लफ़्ज़ों से निपट सकती तो कब की निपट जाती
पेचीदा पहेली है बातों से न हल होगी।
जो बज़्म में आए थे पर बोल नहीं पाए।
उन लोगों के हाथों में कल मेरी ग़ज़ल होगी।

2. उनका कहना है कि ये रेत है, सहरा तो नहीं,
ये सफ़ीना है भँवर में कहीं ठहरा तो नहीं।
कुछ न कुछ सोच रहा होगा यकीनन इंसाँ,
यूँ कि वो लागिरो लाचार है बहरा तो नहीं।

फूल-पत्तों पे लिखो चाँदनी रातों पे लिखो,
कितने मज़मून हैं हर एक पे पहरा तो नहीं।
मैं समझता हूँ समंदर में उतरकर देखो,
ये समंदर है महज़ नाम का गहरा तो नहीं।
मेरी तकलीफ़ समझ जाएँगे सुनने वाले
मेरा हर शे'र दुमानी है इकहरा तो नहीं।

मेरे पास लंदन, न्यूयॉर्क से भी कई पत्र और सामग्री आई है। जैसे सब लोग भीतर ही भीतर सुलग रहे हैं। लगता है—कुछ न कुछ होगा ज़रूर—देखिए क्या होता है।

आज हालात समंदर की तरह लगते हैं,
सारे मंज़र पसे-मंज़र की तरह लगते हैं।

रघुवंश जी के बारे में, फ़ादर बुल्के आए थे, उन्होंने कन्फर्म किया। डॉ॰ सिन्हा का भी कहना ठीक है। मेरे बारे में अशोक-रानी एंड कं॰ ने इधर लिख रखा है कविताओं के प्रमाण देकर। मैं एकदम प्रस्तुत हूँ।

लंबी कविता 'चार पत्र एक प्रसंग' के बारे में आपके जो सुझाव हैं—A one हैं। आप निस्संकोच परिवर्तन कर लें। मैं बंबई आने की बहुत दिनों से सोच रहा हूँ। नवंबर में छुट्टियाँ हैं, तब आऊँगा। कभी-कभी ऐसे ख़त लिख दिया करें तो राहत मिलती है। C.B.Rao के शब्दों में लगता है :

तू अकेला ही नहीं है जो अकेला चल रहा है
और तलुवों के तले भी ये धरातल जल रहा है।

कमलेश्वर को मेरा सलाम दें।

आपका
दुष्यन्त
1974

पिता चौ० भगवत सहाय जी के नाम एक पत्र

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद

पूज्य पिताजी!

प्रणाम!

राजो के पत्र से ज्ञात हुआ कि अभी तक मुन्ने की बीमारी में कोई ख़ास तबदीली नहीं है। ऐसी दशा में बेहतर होगा कि आप एक बार शिवचंद्र जी से भी मशवरा कर लें। या कविराज जी का ही निश्चित मत जान लें कि उन्हें लाभ की विश्वस्त आशा है या नहीं? या मुन्ने में कुछ फ़रक है और राजो ने ग़लत लिखा? कृपया लिखिएगा।

इस मास परीक्षा की फ़ीस अलग ली जा रही है 40 रुपए। इस कारण अच्छा हुआ कि मैं घर से 140 रुपए ही लाया था। ठीक समय पर 10 फरवरी तक आप रुपए भेज दीजिएगा। यूँ तो फ़ीस दे चुकने के बाद अब भी मेरे पास पैसा नहीं है, क्योंकि 60 रुपए तो दिसंबर, जनवरी, फरवरी, मार्च की फ़ीस दी है। रसीद साथ में है। इम्तहान की फ़ीस आपके रुपए आने पर ही दे सकूँगा। आपकी दिक्कतों का मुझे ख़याल है लेकिन मजबूरी है, यहाँ भी ख़र्चा है ही। उधर होटल में खाना खाना पड़ता है। उसे 30 रुपए पेशगी देने पड़े। जो उसके पास जमा रहेंगे और 35 रुपए महीना खाने का देना पड़ेगा।

इस तरह और ख़र्चा, किराया, बिजली, पुस्तक, साइकिल, घड़ी साफ़ कराई इत्यादि मिलाकर 130 रुपए जो घर से लाया था (लाया 145 रुपए), लेकिन 15 रास्ते में रेल किराए में लग गए, सब ख़र्च हो गए हैं। दो-चार रुपए हैं जिनसे चार-पाँच तारीख़ तक काम चल जाएगा।

मुन्ना के बारे. में लिखिएगा। बीबी को प्रणाम।

शेष कृपा
आपका
दुष्यन्त

पत्नी श्रीमती राजेश्वरी त्यागी के नाम लिखे पत्र

(1)

P.C. Banerjee Hostel
Allahabad

27 April...[1]
My darling

The best love to you.

तुम्हारा पत्र मिला। परीक्षाएँ समाप्त हो गईं कभी की। कई दिनों से तुम्हें पत्र लिखने की सोच रहा था, तुमने तो पत्र डाला नहीं था, मेरा पत्र तुम्हें देर से मिला तो मेरा क्या कसूर? यह तो Post Department की गड़वड़ी का परिणाम है। हम तो पत्रों की Bussiness में काफ़ी Regular हो गए हैं। क्योंकि श्रीमती जी ने हमें पहले ही काफ़ी डरा दिया है।

हाँ, अलबत्ता तारीख़...[2] अपनी ग़लती को बड़ी भारी ग़लती अवश्य माने लेता हूँ, क्योंकि अगर तारीख़ लिखी होती मेरे लिफ़ाफ़े पर तो भी पत्र देर से डालने का इलज़ाम हम पर न लगा पाती। ख़ैर साहब, यह भी हमारी ही ख़ता सही।

पहले ही लिख चुका हूँ कि इम्तहान समाप्त हो चुके। अब जनाव, केवल तफ़रीहबाज़ी शेष रह गई है। जी तो लगता नहीं। University बड़ी सुनसान-सी लगती है। लड़के अधिकतर चले गए हैं। केवल दो-चार हम जैसे अभागे जिनकी Attendence ज़रूरी है, हमारी ही भाँति पड़े हैं।

अजी, लड़के चले जाते तो कुछ बात नहीं थी। तबीयत लग भी जाती पर कमबख्त लड़कियाँ तो उससे भी पहले चली गईं। क्योंकि वे बड़ी Regular होती हैं न, अतः उनकी किसी की भी Attendence कम नहीं। सोचता हूँ कि उनकी भी Attendence थोड़ी होती तो कितना अच्छा होता, कम से कम जी तो लगा रहता। तो University जाने को जी भी नहीं करता, पर जाना ही पड़ता है घंटे-दो घंटे के लिए।

अब सारी दोपहर आराम करते गुज़र जाती है। अतः दोपहर काटने के लिए तुम्हें इतना लंबा-चौड़ा पत्र लिखने की सोची है। यों वैसे भी तुम्हें कोई लंबा-सा पत्र इस साल लिखा नहीं, सोचा, चलो आज सारी कसर पूरी कर लूँ।

---

1. संभवतः यह 1952 का पत्र है।

2. अपठनीय

हाँ, तो इम्तहान ख़तम हो गए हैं। इतना लिखने से काम नहीं चलेगा। आप जनाब परेशान होंगी कि पास भी होंगे या नहीं? तो श्रीमती जी, सुनिएगा कि Pass और Fail होना तो परमेश्वराधीन है। हाँ, Papers बुरे नहीं हुए। केवल Philosophy का कुछ बिगड़ गया है। पर देखिए, पास शायद हो ही जाएँ। बड़े आदमी ठहरे, कुछ रोब-दाब भी काम करता है।

हमारा पत्र जो आप पर गया, उसे आपने कई बार पढ़ा, यह तो सौभाग्य की बात है, पर बड़ा व्यंग्य-भरा पत्र था, यह आपसे किसी ने झूठ-मूठ कह दिया, ऐसी बात तो थी नहीं प्रिये, चाहे किसी से पूछ लो। और आपको जनाब, हमारे पत्रों की उम्मीद नहीं रहती, यह तो बड़ी बुरी बात है। हम तो कहते हैं रानी श्रीमती जी कि आपको हमारे पत्रों की उम्मीद हमारे मरने के बाद भी करनी चाहिए। हम तो पत्र लिखने के इतने शौक़ीन हैं कि बिना पत्र लिखे कहीं रहा ही नहीं जाता—फिर वल्लाह Fair sex (औरतों) को, उन्हें लिखने में तो बड़ा मज़ा आता है और ईश्वर की दया से अब एक तुम ही तो रही हो जिसे पत्र लिखा करता हूँ, अतः भाई, यह आदत तो छूट न सकेगी, क्षमा करना।

दूसरा प्रश्न आपका है, कमरा क्यों बदल दिया है, और जनाब बदल दिया है तो श्रीमती जी ने उसके हज़ार तरह के अल्लम-ग़ल्लम मतलब लगाने शुरू किए। जनाब, वह तो शुक्र कहिए खुदा का कि Single Seated Room मिल गया। कहाँ मिलता है वरना। ख़ुशकिस्मती है हमारी। अगले साल देवी जी, फिर Double Seated में जाना पड़ेगा। और मेरी नेकबख़्श बीवी, भला वता तो सही कि Hostel में रहकर खुराफ़ात की ही क्या जा सकती है : जो मैं Single Seated Room में करूँगा। लड़कियों को Hostel में लाना सख़्त मना है। यही एक खुराफ़ात आपकी नज़रों में मैं कर सकता था।

और जनाब, घर वालों ने और आपने मुझे कौन-से हज़ारों और सैकड़ों रुपयों के Money-orders कर दिए कि मैं सोफ़ा-सेट ख़रीदता। यह तो भाई इम्तहान के कारण किराए पर ले आया हूँ महीने-भर को, फिर लौटा देना होगा।

पर इसमें शक नहीं कि ठाठ अलबत्ता आ रहे हैं। एक बिजली का पंखा किराए पर ले आए हैं। और कमरा सजाने का सारा सामान किराए पर ले आए हैं। जितने रुपए डाकखाने में जमा थे, सब बराबर हो गए हैं। अब पत्रिका पर रुपए चाहिए, वह 8 मई तक मिलेंगे, तब कुछ घर आने का किराया निकलेगा।

कश्मीर की बात क्या? वह तो भेना जी ज़िंदा हैं, उनसे रुपए न लिए तो बात क्या? क्या हुआ, ज़्यादा से ज़्यादा उनके लिए दो आने की दवाई हाज़मे की लानी पड़ेगी, ताकि उन्हें कब्ज़ न हो जाए। रुपए तो दे ही देंगी।

अरे, जब कमाएँगे जब देखी जाएगी। जब की चिंता अभी से क्यों करती हो? हम तो उन आदमियों में से हैं भाईजान कि मिल गई तो पूरी कचौड़ी खा ली और न मिली तो भूखे भी ठीक।

रहा बनारस जाने का प्रश्न सो वहाँ इसलिए जा रहे हैं कि वहाँ के मित्रों ने बुलाया है, उनका प्रोग्राम है कुछ तफ़रीह का, अतः जाना पड़ेगा। आप सोचती हैं कि बनारस में केवल हमारे एक वही मित्र हैं। जी नहीं, यह आपका ग़लत ख़याल है, अब और न जाने कितने बन गए हैं। अरे साहब, खोज क्या करनी है वहाँ, वह तो ख़ूब कर चुके हैं। उससे ज़्यादा भी और कुछ किया है क्या आपने, जिसकी खोज की जा सकती है। किया भी हो, तो अब अपन को आवश्यकता नहीं।

चुनार का तो Programme मात्र था, निश्चय नहीं। हाँ, एक-आध दिन के लिए जाएँगे। कोई दर्शनीय स्थान नहीं है। बनारस जाते या आते समय रुकेंगे, कल तशरीफ़ ले जाएँगे। तीन दिन के अंदर-अंदर लौट आएँगे। छुट्टी भी है तीन दिन की।

पैसे ज़्यादा तो नहीं कि तुम्हें दूँ, हाँ, अलबत्ता अगर आपको आवश्यकता हो तो सौ रुपए तक किसी भी वक़्त मँगा सकती हो। किसी मामूली हस्ती से आप बातचीत नहीं कर रही हैं जनाब! आपको क्या देना रुपयों का? दिल आपको दे चुके। बाज़ार जाएँगे तो हज़ारों की क़ीमत का न मिलेगा। बस, हँस पड़ी होंगी इस बात को पढ़कर—हम तो यहीं बैठे-बैठे देख रहे हैं कि आप अब शरमा गईं—दिल का नाम सुनकर। अरे साहब, इसमें शरमाने की बात क्या है, वह तो है ही आपका—हँसिएगा नहीं। आज़मगढ़ नहीं जाएँगे। साले साहब हों या बीच में ही रह जाएँ हमें कोई Interest नहीं। उनके आने की कोई विशेष कृपा हम पर तो होगी नहीं, आप पर हो चांहे ताऊ जी पर या ताई जी पर हो। और साहब देखिए, अब हमें अपने घर आने का प्रोग्राम ठीक-ठीक लिखना पड़ ही रहा है। इसलिए कि आपकी बड़ी भारी इच्छा है कि हम जल्दी से जल्दी घर आ जाएँ, अरे, आप साफ़-साफ़ न कहें तो इससे क्या होता है, हम समझते तो हैं!

ख़ैर चलिए, आप पर अहसान कर ही दें। तो देखिए जनाब, हम शायद दस की शाम को यहाँ से चलेंगे और 11 तारीख़ को जो गाड़ी वहाँ तीन बजे पहुँचती है, उससे पहुँचेंगे।

पर इसका कोई निश्चित वादा मैं नहीं करता, हो सकता है, ऐसा न भी हो। मुझे कुछ काम लग गया तो बजाय 11 के मैं 12 या 13 को भी आ सकता हूँ। ख़ैर, मैं आऊँ कभी, पर बात कहूँ चुपके से, कोई सुने ना कि अपनी मोटो रानी को देखने को बड़ा जी करता है। सच, बड़ी इच्छा है।

एक ख़त अभी और लिखेंगे जिसमें अपनी ठीक-ठीक तारीख़ बताएँगे आगमन की। यह तो वैसा ही पत्र है। इसका उत्तर शीघ्र दे देना। और देखो, ज़रा प्यारा और लंबा उत्तर देना।

और देखो, हमारी ख़बर मत लेना, अगर हम देर से पहुँचे तो; हम ख़ुद काफ़ी डर रहे हैं।

तुम्हारा भोंदू
दुष्यन्त

(2)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद

प्रिय राज!

प्यार!

तुम्हारा पत्र मिला। पढ़कर प्रसन्नता नहीं हुई, प्यार हुआ। तुम बहुत बुरी हो, इस सेन्स में कि मेरी अच्छी भावनाओं को जगा देती हो।

अब तुम्हें भी पत्र लिखना आ गया है। लिखना क्या जादू करना आ गया है। और मैं अगर कहूँ कि यह जादू तुमने हरिद्वार के किसी जवान जोगी से सीखा है, तो तुम नाक-भौं सकोड़ लोगी? कहोगी, 'यह श्रीमान आपकी कल्पना है!' तो बस यही बात निर्मला जी के भी विषय में समझ लीजिए, जिनका आज अपने पत्र में आपने दूसरी बार उल्लेख किया।

मुन्ने की बीमारी की बात मुझे अब भी कुरेद रही है। पिताजी ने ग्रह खराब लिखा है। यह बात कुछ जँचती नहीं। हो सकता है, इस नए वैद्य से कुछ फ़ायदा हो। भगवान् सब ठीक करेंगे।

पिताजी से रुपयों की अब कोई जल्दी नहीं करने की जरूरत है। आज एक कवि-सम्मेलन में आज़मगढ़ जा रहा हूँ, 51 रुपए मिलेंगे। घड़ी बदलवानी है। उन 51 रुपए में से फ़ीस इम्तहान की दे लूँगा। फिर भी रुपए सुविधानुसार आ ही जाने चाहिए। कह देना।

इधर रचनाएँ बहुत छप रही हैं। अख़बार भी बहुत आते हैं, चाहो तो कुछ भेज दिया करूँगा। पढ़ाई चल ही रही है ठीक-सी।

निर्मला जी की नमस्ते स्वीकार ही कर लीजिएगा, उत्तर में। यद्यपि मुझे स्वयं कभी उनसे मिलने का सौभाग्य नहीं मिला है—'विहान' आ रहा है, भेजूँगा।

तुम्हारा
दुष्यन्त कुमार

(3)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद

प्रिय राजो!

मैं आज सकुशल यहाँ आ पहुँचा। रास्ते-भर मन तुम्हारे पास पड़ा रहा और तुम्हारी चिंताओं और परेशानियों के विषय में सोचता रहा। मन तो आने को करता नहीं था, यदि तुम एक बार भी छुट्टियाँ लेने को कह देती तो आता नहीं, पर चला

ही आया। अब यहाँ मकर संक्रांति की 15 ता॰ तक की छुट्टियाँ हैं, बड़ा दुःख हो रहा है। लेकिन ख़ैर–

चाची को तुम्हारे पास रवाना कर ही आया हूँ, वे तुम्हें कुछ न कुछ सहायता तो देंगी ही। तुम किसी बात की फ़िकर मत करना, अगर तुम्हें कुछ परेशानी हो तो तुरंत मुझे लिखना, मैं तुम्हारा पत्र आते ही चल पड़ूँगा।

अभी आया हूँ गाड़ी से उतरकर। न दावात में रोशनाई है, न Pen में Ink. सोचा Pencil से ही लिख मारूँ। शेष कुशल है। पिताजी को प्रणाम। मुन्ने की पूरी सूचना देती रहना।

पिताजी से कहना कि Tahsil Najibabad से 102 रुपए लाया था, जिनमें से 3 रुपए वकील ने अपने टिकटों के और कुछ पिछले चाहते थे, काट लिए तथा 1 रुपया खजांची को दे दिया। इस तरह 98 रुपए मुझे मिले, जिनसे कुछ सामान नजीबाबाद से लाया जैसे कनस्तर, तेल, सब्जी आदि।

तुम्हारा
दुष्यन्त

(4)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद

My dear Raj !

बहुत ख़ूबसूरत-सा तुम्हारा पत्र मिला, बड़ी मिठास थी। बड़ी स्नेह-स्निग्ध भाषा थी उसकी। पढ़कर तबीयत प्रसन्न हो उठी।

वास्तव में हमारी ये गर्मियाँ बड़ी अच्छी बीतीं। बड़ा स्नेह रहा। बहुत प्यार रहा। शायद इसीलिए हम लोग एक-दूसरे से बहुत प्रसन्न हैं। अब तुम्हें ऐसे ही प्यारे-प्यारे ख़त लिखूँगा। और दशहरे में आकर तुम्हें यहाँ लिवा लाऊँगा।

सिगरेट तुम्हारे कहने के अनुसार कम कर दी है या कहना चाहिए कम करनी पड़ी है। इसलिए कि इधर खाँसी, जुकाम और नजला इतना ज़्यादा हो गया है कि आवाज़ तक बदल गई है। कल रात जो सिर में दर्द हुआ तो रोने लगा। सोचा कि पढ़ाई-वढ़ाई छोड़कर घर भाग आऊँ। दो बजे तक दर्द होता रहा। तब कहीं जाकर नींद आई, अब तो ख़ैर कुछ ठीक हूँ। यहाँ कमलेश्वर और मार्कण्डेय कहते हैं कि कुछ मोटा हो गया हूँ।

तुम्हारी पूको मिली, धन्यवाद देकर शब्दों को यूँ ही नहीं ख़र्च करना चाहता। क्योंकि तुम स्वयं मेरी भावनाएँ समझ सकती हो।

इधर कुछ लिखना-पढ़ना बंद है। अनुवाद का काम कर रहा हूँ। देखो, प्राइवेट बात बताऊँ कि जितना अनुवाद मैंने घर पर किया था, उसका मुझे 75 रुपया मिल गया है। जिसमें से मैंने एक 'ज्वेलरी बॉक्स', जिसमें जेवर रक्खे जाते हैं, मुन्नी को भेंट देने के लिए ख़रीद लिया है, क्योंकि यहाँ कोई अच्छा शृंगार बॉक्स मिला नहीं, फिर शृंगार बॉक्स की भेंट में कोई नवीनता भी नहीं। यह चीज़ सुंदर भी है और काम की भी। हाँ, कुछ और चीज़ तुम चाहो तो लिखना, वह भी ख़रीद लूँगा। फिलहाल मैंने 60 रुपए बचाकर रख रखे हैं। जिनमें से मैं तुम्हारे लिए बाटा के एक जोड़ी रोज़ाना इस्तेमाल के स्लीपर भेजूँगा। ये नए डिज़ाइन के लाल स्लीपर हैं, जो बहुत ही सुंदर लगते हैं। एक महीने में मेरा अनुवाद पूरा हो जाएगा, तब मुझे 300 रुपए और मिलेंगे। उनमें से यदि चाहो तो तुम्हारे लिए घड़ी ख़रीद दूँ। साड़ी-वाड़ी ख़रीदने की तो भाई हमें तमीज़ है नहीं। बहरहाल तुम लिखना कि मैं क्या-क्या चीज़ तुम्हारे लिए ख़रीदूँ? क्या पिताजी या बीबी को भी कुछ लूँ? अगर तुमने शीघ्र न लिखा तो रुपए ख़र्च कर दूँगा।

और मोटो जी, जैसे मेरे पत्र का उत्तर आपने इतनी देर में दिया है, अगर मैं भी देर करने लगूँ तो? आपका ख़त मुझे अभी मिला है, और तुरंत उत्तर लिख रहा हूँ।

भवानी प्र॰ मिश्र की कविता यहीं थी, मिल गई है। देखो, मैंने पिताजी को एक हज़ार रुपए के लिए लिखा है। तुम यदि उनकी कोशिश कर दोगी तो मज़े में 300 रुपए महीने की आमदनी होगी और दोनों साथ रहेंगे। यों वैसे भी मैं एक मकान की खोज कर रहा हूँ। दशहरा बाद हम साथ रहेंगे ही। अब अकेले रहा नहीं जाता।

मेरे उपन्यास की बात पिताजी से कहना मत, वरना वे मुझे रुपए नहीं देंगे। यह सब स्वयं मैं कह दूँगा। एक और पत्रिका 'समीक्षा' प्रकाशित कर रहा हूँ। सितंबर तक शायद निकल पाएगी।

अपने लिए एक सोफ़ा-सेट ख़रीदने का विचार है। एक रेडियो भी। कैसा रहेगा? इधर ख़ूब कमा रहा हूँ। एक और किताब का अनुवाद करूँगा। Sex Education of Children.

पत्र शीघ्र लिखना, मुन्नी को प्यार।

राजो-दुष्यन्त

(5)

बसंत का प्यार

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद
20.1.53

राजरानी!

तुम्हारा स्नेहमय पत्र मिला। पढ़कर विचलित हो उठा। पंख लगाकर उड़ आऊँ, मन किया। क्यों, अगर चिड़िया होते हम लोग तो कैसा रहता? क्या कोई जादू संसार में अब ऐसा नहीं रह गया जो आदमी को तबदील कर दे? होगा तो। क्यों, होना चाहोगी चिड़िया?

अच्छा, मैं अपनी बात बताऊँ। दिन में चार घंटे पढ़ता हूँ, चार घंटे मैगज़ीन का काम देखता हूँ, चार घंटे तक तुम्हारी याद आती है। यह सिलसिला टूटता नहीं। पढ़ता हूँ तो चार घंटे तक नियमित रूप से, समय पर। मैगज़ीन का काम करता हूँ तो समय पर। सब कामों का सिलसिला है। पर बेसिलसिला है कमबख़्त याद। किसी वक़्त आ मरती है। यह ख़याल नहीं कि अब हज़रत पढ़ रहे होंगे, अब लेख लिख रहे होंगे; अब मैगज़ीन Edit कर रहे होंगे। ज़रा समझा देना।

यूँ तो इस याद का महत्त्व कम नहीं। कविता लिखने का Mood न हो तो भी यह ले आती है। अभी एक कविता लिखकर चुका हूँ—

आज कोयल के स्वरों पर
तैरती आई तुम्हारी याद,
प्राणों के समुन्दर में उठी हिलकोर
जल डोला प्रणय का
नयन-तट पर आ लगा अवसाद

कविता बड़ी लंबी है, छपेगी तो भेजूँगा। तुम सामने होती हो तो कविता लिखी नहीं जाती, कविता लिखी जाती है तब जब घुटन हो, तुम जब सामने हो तब घुटन से क्या वास्ता? फिर तो मधुवर्षण होता है, सपनों की रिमझिम-रंगीन किरणें बरस रही हों जैसे!

तुम्हारी याद नुक़सान बहुत करती है, पर बुरी नहीं लगती। क्योंकि⋯

यह याद भी किस गीत से कम है
युगों की साधना का
यह अथक श्रम है⋯है न?

और क्या लिखूँ? ज़्यादा प्यार की बातें लिखूँगा तो मोटो को रात-भर नींद नहीं आएगी, यों भी कम आती होगी। इसीलिए छोटा-सा ही ख़त ठीक। ज़्यादा लिखने में हाथ इधर-उधर हो गया तो ख़तम मामला। फिर हम जैसे अनाड़ी आदमी। अपनी मैगज़ीन 'विहान' भेजूँगा 15 फरवरी तक।

तुम्हारा अपना
दुष्यन्त

(6)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद
22.1.53

प्रिय राजि!

कैसा पत्र लिख देती हो? एक घंटे तक जैसे अपने अस्तित्व को भूल जाता हूँ। पाँवों से सिर तक एक सनसनी फैल जाती है। मन करता है उड़कर तुम्हारे पास चला आऊँ। इतना दर्द, इतनी बेबसी भर देती हो हर पंक्ति में कि मन कराह उठे। तुम्हारा दर्द केवल तुम्हारा ही नहीं, मेरा भी है, इसे तुम क्यों भूल जाती हो? क्या तुम अपने दुःख में मुझे साझीदार नहीं मानती!

मेरे अकेले क्षण तुम्हारे दुःख सोचने के लिए होते हैं। तुम्हारी याद करने के लिए होते हैं, तुम्हारे लिए होते हैं। ज़िंदगी का अधिकांश तुम्हारा, तुम चाहो तो उसमें दर्द और कराहें भर दो, चाहो उल्लास और हर्ष, मैं कौन? ये सब तुम्हारे अपने दान हैं। मैं कैसे अस्वीकार कर दूँ? मैं तो हर्ष पाकर मुस्करा दूँगा, दर्द पाकर पी जाऊँगा, या अधिक से अधिक थोड़ा उदास हो लूँगा। और क्या?

तुम्हारी परेशानियाँ तुमसे ज़्यादा मैं समझता हूँ, ऐसा दावा तो मैं नहीं कर सकता, फिर भी इतना अवश्य कह सकता हूँ कि मैं उनको गंभीरतापूर्वक लेता हूँ। उन पर सोचता हूँ और दुःख से भर उठता हूँ। चाहता तो हूँ कि कुछ ऐसा बन जाऊँ कि तुम्हें फूलों की सेज पर बिठाकर उठने ही न दूँ। पर लगता है अभी ऐसा संभव नहीं। दिन आएगा, हाँ, शीघ्र ही आएगा। फिर···

मुन्ना की बीमारी में कोई परिवर्तन नहीं है, यह जानकर मैं सचमुच व्यग्र हो उठा हूँ। कविराज शिवचंद्र जी को भी दिखाना ठीक रहेगा। यह प्रस्ताव पिताजी के सामने रखना।

बीबी क्या अभी तक वहीं हैं? मेरी परीक्षाएँ होली के ही आसपास हैं, फिर भी मैं एक-दो दिन को आने की चेष्टा करूँगा। और अधिक क्या लिखूँ राजो, एक

भी प्यार की बात नहीं लिख पाया। दिल में तो बहुत-सी बातें हैं, पर लिखूँ कैसे? तुमने तो ऐसा शोकपूर्ण पत्र लिखकर मन ही भारी कर दिया।

परसों को लिखूँगा और।

तुम्हारा
दुष्यन्त

(7)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद
24.10.53

मेरी उपास्य देवी 'कुमकुम'

बहुत-बहुत प्यार!

आज तुम्हारा ख़त मिला, पढ़कर प्रसन्नता कितनी हुई, यह मैं नहीं लिख सकता। इसे तुम स्वयं भी सोच सकती हो, इतना प्यारा स्नेहयुक्त पत्र ज़िंदगी में तुमसे शायद काफ़ी दिनों के बाद पा रहा हूँ—और खोई निधि पाने से जो प्रसन्नता होती है, उसे तो तुम जानती ही होगी।

मुझे तुमने Newada Allahabad आने से रोका नहीं, इसके लिए तुम्हें दुखी होने की आवश्यकता नहीं। इसमें संदेह नहीं कि मैं रुकना चाहता था और अगले दिन की छुट्टी भी थी जिसका मुझे ज्ञान नहीं था। पर इससे क्या—मैं सचमुच तुम्हारे उस व्यवहार से इतना .खुश हुआ कि कह नहीं सकता, इतना त्याग और इतनी तपस्या जिस स्त्री में हो, उसका पति यदि उसका दास हो तो क्या आश्चर्य! रानी, सचमुच तुम तपस्या कर रही हो, और तुम्हें अपनी तपस्या में निष्ठा है, वह निष्फल नहीं जाएगी।

मैं चाहे तुम्हें कुछ कहता रहा, पर मेरा हृदय सदैव तुम्हें पूजता है, प्यार तो सभी करते हैं, पर मैं तुम्हें पूजता हूँ—बिलकुल देवी की तरह, देवताओं की तरह। मेरा अकसर जी करता था कि तुम रूठ जाओ और मैं तुम्हारे पाँवों में पड़ा तुम्हें मनाता रहूँ, पर तुम कभी भी घंटे-भर से ज़्यादा के लिए नहीं रूठी। लखनऊ में दो दिन लग जाने की वजह से तुम्हें ख़त न लिख सका, जैसा कि सोच रहा था कि जाते ही लिखूँगा।

तुमने लिखा है कि तुम्हें रास्ते-भर मेरी याद आती रही होगी, तुमने इसका अनुमान कर लिया कि बड़ी मीठी याद आती होगी, पर सच, याद बड़ी कड़वी थी, जब तक मुझे यह ख़याल रहता था कि मैं नवादे में हूँ, तब तक तो याद मीठी रहती थी, पर यह सोचते ही कि मैं Train में हूँ, दिल कसक उठता था, एक कराह-सी दिल में उठती थी और मैं बेचैन हो जाता था। काश रानी, तुम भी मेरी दशा को

समझ पाती। इसी तरह कि जैसे अपनी समझती हो।

कोई क्षण ऐसा नहीं जाता जब तुम्हारी याद न आती हो। यहाँ आकर सारा बँगला इतना सुनसान लगा कि जैसे कोई मर गया हो। देखो रानी, सुना है, दीवाली की 17 दिन की छुट्टियाँ हैं। अगर कहो तो आ जाऊँ, वरना यहीं पड़ा रहूँगा। पिताजी को ख़त में मैंने लिख दिया है कि Rajo को सहारनपुर भेज दीजिएगा।

तुमने अपने इस पत्र के लिखने में तो कमाल कर दिया है कुंकुम—इतना प्यारा पत्र लिखा है कि रात-भर नींद भी नहीं आएगी।

रानी, सच तो यह है कि मुझे तुम्हें पाकर जितना सुख हुआ है, वह देवताओं को भी नसीब न होगा, और मैं तो तुम्हारे चरणों की धूलि के समान भी नहीं। मैं न तो तुम्हें कुछ दे सका और न सुखी ही रख सका हूँ। मेरा हृदय और प्यार तुम्हारा है और रहेगा।

लखनऊ में सब तुम्हारी बड़ी याद करते हैं, तुम चंद्रकला भेना को ख़त लिख देना। यहाँ सब ठीक हैं।

और अधिक क्या लिखूँ—रात को तो तुमसे बातें होंगी ही सपने में या विचारों में। हाँ, देखो, मेरी याद रोज़ाना किया करना।

तुम्हारा दास
दुष्यन्त

(8)

11 कानपुर रोड
इलाहाबाद
12.11.54

राजो जी,

आज बड़ी फुरसत से हूँ। पढ़ने-लिखने को तो यों ही कभी-कभी मन करता है। हाँ, और बहुत-से Appointment रहते हैं, आज कुछ ऐसी बात नहीं। मैं अपने को कुछ हलका-हलका और ईमानदार महसूस कर रहा हूँ—ख़त लिखने के लिए इससे अच्छा समय और कोई हो ही नहीं सकता, ऐसा मेरा ख़याल है। अगर घड़ी ग़लत नहीं तो दस बजने में पाँच मिनट हैं। मौसम कुछ भारी-भारी हो चला है, बँगला सुनसान है—Servent Quarters के लोगों से कोलाहल की ध्वनि भी नहीं आ रही। शायद सो गए हैं—और बँगले में साथ रहने वाले साहब लोग नुमाइश देखने गए हैं—हाँ, तो इससे क्या! इस भूमिका ही में ख़त ख़तम कर दिया तो लिखूँगा ख़ाक?

कुछ सर्दी इलाहाबाद में भी पड़ने लगी है। हलकी-हलकी ऐसी सर्दियों का मौसम भी दरअसल बहुत प्यारा होता है। कभी सोचने लगता हूँ तो सोचता रह जाता हूँ—यह गुस्ताख़ हवा का झोंका अंदर आया तो गरम चादर मैंने शरीर पर खींच ली।

अब सोचता हूँ कि तुम्हें पत्र लिखूँ—लिखने को तो बहुत बातें हैं। लेकिन कुछ को दबाता हूँ और कुछ को लिखना ही पड़ेगा। अगर असली है। दिल की बातें भी लिख दूँ तो शायद ख़त कुछ भारी हो जाएगा। और सबसे साफ़ कहूँ तो यह कि भले आदमियों की भाषा में इसमें अश्लीलता आ जाएगी। ख़ैर, उन्हें न लिखूँगा।

हाँ, तो तुम नवादे से चली गई, क्योंकि एक न एक दिन जाना था। बड़े दिन की छुट्टियाँ होने वाली हैं और मैं जाऊँगा, जाना ज़रूरी भी है—दरअसल ज़िंदगी में बहुत-सी बातें होती हैं, जिन्हें ज़बान नहीं, संकेत बताते हैं। ख़ैर, तो मैं घर जाऊँगा। मानी हुई बात है कि तबीयत नहीं लगेगी। तुम वहाँ जो नहीं हो, पर मैं इससे नाराज़ क्यों होने लगा? हाँ, कुछ उदास होना दूसरी बात है और शायद स्वाभाविक भी। भई, नाराज़ होकर कोई किसी का कुछ बिगाड़ नहीं पाता। और न नाराज़ी से ख़ुशी ही हासिल होती है। फिर मैं क्यों नाराज़ हूँ? हाँ, अगर मेरे बीते दिन लौट आएँ और अगर नाराज़ होने से मेरी अभिलाषाएँ पूरी हो सकें, मेरे सपनों को भाषा मिल सके और आँखों को मिल सको…तुम…तो शायद नाराज़ भी हूँ और शायद अब तो नाराज़ नहीं हूँगा। हाँ, उदास ज़रूर हूँ और कुछ खिन्न भी—इसे मेरी कमज़ोरी कहो या फिर प्यार या दिखावा—यह तुम्हारी मर्ज़ी।

कहने को तो कुछ अधिक, इससे भी अधिक यह कह सकता हूँ कि तुम्हारे बिना ज़िंदा न रह पाऊँगा—जब ठंडी-ठंडी हवा बहेगी तो साँसों के वृक्ष समूल नष्ट हो जाएँगे—जब सितारे चमकेंगे तो धड़कनें ख़ामोश हो जाएँगी। और जब चाँद घूँघट उठाएगा तो तुम्हारी मंजुल मूर्ति आँखों के सम्मुख आ जाएगी, आँखों में बरसात छा जाएगी…और…और…हम ज़िंदगी से निराश हो जाएँगे। पर नहीं भाई, नहीं, हमारे बस की यह बातें नहीं, कवि जरूर हैं, पर ऐसा नहीं लिखा जाता—लिखूँ तो होगा झूठ। दुनिया में कौन किसी के लिए मरता है? पर इतना तो हम भी कहेंगे कि याद हम तुम्हें रोज़ करते हैं और नियमपूर्वक! तुम, दर्जे दो में दिए गए मुंशी जी के उस सबक (पाठ) की भाँति हो जिसे रोज़ाना पढ़ना पड़ता है—और मज़ेदारी यह कि तुम्हें ही याद करके दुःख होता है, फिर भी तुम्हें ही याद करते हैं। पर तुम इन बातों को क्या समझोगी? तुमने हमारी कब याद की है। ताज्जुब है, औरतें इतनी पत्थरदिल नहीं देखीं, जितनी तुम।

इन्हें जाने दो, अब और बातें करूँ—पर क्या? मैं सोचता हूँ कुछ, लेकिन कल्पना और विचारधारा तुम्हारे ही पास आकर ठहरती है। ख़ैर, इंसानी दुर्बलताएँ भी प्यारी होती हैं और मैं तुमसे प्यार करता हूँ, यह जानते हुए भी कि यह पत्थर है, इससे पानी निकलना और उससे तृप्ति की आशा करना रेत पर सपनों के किले बनाना है—यह मेरी दुर्बलता है, मैं जानता हूँ। पर अपनी इस कमज़ोरी को मैं प्यार करता हूँ—और भगवान् से प्रार्थना करता हूँ कि यह कमज़ोरी मुझमें न केवल जब तक ही रहे जब तक कि मैं ज़िंदा हूँ, बल्कि मेरे मरने के बाद मेरी चिता की राख भी

इसी दुर्बलता की प्रतीक हो।

जैसे एक गोलाकार पथ का बटोही चलकर फिर वहीं पहुँच जाता है, जहाँ से चला था। उसी तरह मैं इधर-उधर के जग की सोचकर फिर उन्हीं तत्त्वों की सोचने लगता हूँ जिनसे तुम बनी हो। ख़ैर, तो मेरा ख़त भर चला यद्यपि अधूरा है–तुम्हारे काम की बात इसमें कोई नहीं, पर मेरे दिल की बात सब हैं–आख़िर में मेरा प्यार लो, मैं चला···तुम्हारा···मैं···

दुष्यन्त

(9)

140, Mantordjanj
इलाहाबाद
26.1.55

प्यारी राजी,

मेरे जीवन के इतिहास में सबसे अधिक कल्पनातीत सुख के क्षण वे थे जिनमें मुझे तुम्हारा यह पत्र मिला। अगर तुमने यह पत्र अपने ही हाथ से न लिखकर टाइप कराकर भेजा होता तो मैं विश्वास भी नहीं कर सकता था कि यह तुम्हारा पत्र होगा। इतना मधुर, अनुभूतिपूर्ण और मर्मस्पर्शी पत्र पाकर मैं अपने को धन्य समझता हूँ। तुम्हारे प्रति कृतज्ञता से मेरा रोम-रोम विनत हो उठा है।

मैं अनुभव कर रहा हूँ कि यह पत्र लिखते हुए तुम्हें कितनी कठिनाई का अनुभव हुआ होगा। मगर तुमने सचाई को निरावृत्त कर दिया है। तुम्हारी हर बात प्रसंग के अनुकूल और सही है। सच ही मैं तुम्हें बहुत प्यार करता हूँ। इतना कि जितना कोई किसी को न करता होगा। मैं यह नहीं कहता कि तुम्हारे मन में मेरे लिए ममता नहीं, तुम मुझे प्यार नहीं करतीं। परंतु यह तय है कि तुम्हारा पत्र मेरे प्यार का शतांश भी नहीं है।

दिल सचमुच तुम्हारा सोने का है, परंतु तुम उसमें ताँबा मिलाने की कोशिश करती ही रहती हो। तुम मुझे प्यार करती हो तो मुझे प्रसन्न करने के लिए। मीठे पत्र लिखती हो तो मुझे प्रसन्न करने के लिए। शायद तुम्हारे मन में यह भाव रहता है कि मेरा पति मुझसे प्यार करता है, इसलिए उसके प्रति स्नेहपूर्ण व्यवहार करना ही चाहिए। यह दया का भाव है। बस मुझे इसी स्वप्न पर आपत्ति है। यहीं मेरा हृदय दुख उठता है। मुझे मर्मांतक पीड़ा होने लगती है। जैसे हृत्पिंड के चारों ओर आग जल उठी हो। मैं इस दया का पात्र होना नहीं चाहता। मैं यह भी नहीं चाहता कि क्योंकि मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, इसलिए तुम भी प्यार करने की कोशिश करो। क्योंकि मैं तुम्हें मीठे पत्र लिखता हूँ, इसलिए तुम भी अपने पत्रों में मीठापन देने की कोशिश करो। मैं यह सहानुभूतिपूर्ण प्रतिदान वाला प्यार नहीं चाहता। यह मुझे

कुरेदता है। मैं तो चाहता हूँ कि प्यार तुम्हारे हृदय से निर्झर की तरह फूट पड़े। मेरी याद कर तुम्हारे ओठों पर मुस्कान फैल जाए। अकेले में मेरा स्मरण कर तुम सुख से भर उठो। मुझे सामने पाकर तुम्हारी बाँहें आलिंगन के लिए विह्वल हो उठें। प्यार स्वयं उद्भूत हो। जिस तरह धरती से अंकुर फूटता है। जिस तरह दुःख से आँसू फूट निकलते हैं, उसी तरह प्यार से प्रसन्नता निकले। यह मैं तुममें चाहता हूँ।

मैं प्यार का बदला नहीं चाहता। मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम मेरे प्यार की कृतज्ञता या अहसान से दबकर मुझे प्यार दो। मैं तो यह चाहता हूँ कि तुम्हारे हृदय में वह तड़फन हो जो मेरे हृदय में तुम्हारे लिए है। वह प्यास हो जिसे मैं महसूस करने के लिए घंटों तकिए में मुँह छिपाए सोचता रहता हूँ।

देखो, बात को कहाँ ले गया। तुम्हारे प्यारे-से पत्र का प्यारा-सा उत्तर देने बैठा था और कहाँ ये शिकायतनामा भरने लगा। बुरा मत मानना, लिखते वक़्त असंख्य बातें मन में रहती हैं। जब लिख चुकता हूँ तो लगता है कि बहुत कुछ छूट गया है। ठीक उसी तरह जब रात को बिस्तर में लेटकर तुम्हारे विषय में सोचता हूँ। तुम्हारी बातें याद कर अनायास कभी हँस उठता हूँ, कभी गुस्सा कर बैठता हूँ।

तुम सोचोगी ज़रूर कि यह सब बातें मैं तुम्हें Impress करने के लिए लिख रहा हूँ। सच भी है। सच ही मैं चाहता हूँ कि तुम्हारे मन में भी मेरे अभाव की एक ऐसी ही कसक हो। यदि हो सके तो भगवान् का ज़िंदगी में दूसरी बार कृतज्ञ हूँगा। पहली बार तो तुम्हें पाकर हो चुका हूँ। तब तुम्हें पता लगेगा कि मैं जब तुम्हारे वियोग की बातें करता हूँ, तुम्हारी स्मृति का रोना रोता हूँ तो वह बकवास नहीं होती, क्योंकि उसके पीछे मेरा हृदय होता है। यह बात दूसरी है कि तेज़ी और प्रवाह की रौ में मैं शिष्ट, संयत साहित्यिक मर्यादाओं का उल्लंघन कर जाता हूँ जिसके कारण कभी-कभी पत्र तुम्हें नीरस, अप्रिय और आडंबरपूर्ण लगने लगते होंगे।

मैं समझता हूँ कि तुम्हें प्रेम-पत्र लिखते हुए संकोच होता है। 'प्रियतम' संबोधन में तुम्हें शर्म लगी होगी। पर मैं यह भी जानता हूँ कि किसी ग़ैर को यही संबोधन तुम प्रसन्नता के साथ कर सकती हो। फिर भी मैं तुम्हें प्यार करता हूँ, क्योंकि शक मेरा स्वभाव है, क्योंकि शक प्यार की पहली शर्त है।

तुम्हारा पत्र बहुत प्यारा तो नहीं है, साहित्य की दृष्टि से, क्योंकि इससे भी ज़्यादा स्नेहपूर्ण पत्र लिखे जा सकते हैं, और लिखे जाते हैं, फिर भी मेरे लिए तो यह अक्षय-निधि है। इसी प्रसन्नता में मैं तुम्हें कुछ भेंट देना चाहता हूँ 20-25 रुपए तक की। जो चाहो वह लिख भेजना। कहोगी तो रुपए भी भेज दूँगा।

स्वेटर के लिए परेशान मत होना। मुझे ज़रूरत होते हुए भी ज़रूरत नहीं है। सच मानो तो मैंने आज तक तुम पर कभी स्वेटर के लिए इसीलिए ज़ोर नहीं दिया कि मैं जानता हूँ कि इसमें बहुत कष्ट होता है। तुम धीरे-धीरे पूरा करना। तिकड़म

भिड़ाकर मैं 'भारत' में सहायक संपादक हो गया हूँ। अब तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ कि फरवरी के अंतिम सप्ताह में क्या तुम यहाँ आना पसंद करोगी? मैं दस-पाँच दिन में ही एक नए मकान में चला जाने वाला हूँ।

लगाव-लिपटाव की बातें न मुझे पसंद हैं, न मैं करता हूँ। इसलिए तुमसे साफ़ जवाब भी माँग रहा हूँ। फिर वही प्यार के प्रतिदान की बात आ खड़ी होती है। वह तुम्हारा स्वभाव है। मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम पर अपने प्यार का दबाव डालकर तुम्हें यहाँ बुलाऊँ। मैं तो तुम्हारी वास्तविक हार्दिक इच्छा को जानना चाहता हूँ। मैं यह नहीं चाहता कि तुम यहाँ आने के विषय में तनिक भी मेरी इच्छा से परिचालित होवो। यह तो सच है कि मैं तुम्हें यहाँ देखना चाहता हूँ, पर अपनी इच्छा से नहीं, तुम्हारी से। साफ़-साफ़ लिखना।

और क्या लिखूँ? एक बात कहूँगा कि ऐसे प्यारे पत्र या तो सदैव लिखा करो या लिखा ही मत करो। ऐसा एकाध पत्र पाकर तो तुम्हें पाने की भूख जाग उठती है। उत्तर शीघ्र और अविलंब देना। प्रतीक्षा में रहूँगा। प्यार स्वीकार कर लिया है। उत्तर में भेज रहा हूँ एक, मैं भी।

तुम्हारा ही
दुष्यन्त

(10)

44/46 राजनिवास होटल
कैनिंग स्ट्रीट
कलकत्ता
24.6.66

प्रिय राज,

यहाँ की स्थिति जानने के लिए तुम व्यग्र होगी। अपने इंटरव्यू के विषय में मैं कुछ नहीं लिखूँगा, क्योंकि उस 'इंटरव्यू' पर मैंने 'इंटरव्यू' शीर्षक एक 'स्केच' लिखा है जो कल टाइप कराकर तुम्हारे पास भिजवा दूँगा। स्थिति ये है कि अभी 4 दिन तक मेरा Trial होगा। यदि पत्र साहित्यिक होता तो ठीक, अब वे इसे 'सरिता' की भाँति Cheap और मनोरंजक बनाना चाहते हैं। और जानना चाहते हैं कि मैं इसमें कहाँ तक उपयोगी सिद्ध हूँगा। इस दौरान में मेरे रहने-सहने का सारा ख़र्च वे देंगे।

कलकत्ता बहुत बड़ा है। मेरी कल्पना से भी कहीं बड़ा। हर वक़्त हज़ारों मोटरें, कारें, ट्राम, दुमंज़िली बसें आती-जाती हैं। 14-15 मंज़िले मकान हैं। ख़ुद मेरा Office 8 मंज़िला Aircondishand है। अपनी ज़िंदगी में ऐसी शान की और इतनी Maintained बिल्डिंग मेरी नज़रों से नहीं गुज़री। साहू साहब का घर तो स्वर्ग है।

लेकिन कलकत्ता साक्षात् नरक है। तुम विश्वास नहीं कर सकतीं कि कल तक मुझे 101° बुखार रहा है, आज 100 होगा। निरंतर दवाई खा रहा हूँ। Influenja है। मगर काम करता हूँ। सादा खाता हूँ। चाय बहुत पीनी पड़ती है।

आते ही कलकत्ते के साहित्यिकों ने दबोच लिया है। गोष्ठी, कवि-सम्मेलन, ये-वो लगा रहता है।

मेरठ ख़त लिखा है ताऊ जी के पास। यहाँ के विषय में लिखा है कि वेतन वगैरा सब ठीक है, आबहवा सूट नहीं करती। वहीं College में कोशिश कराइए।

यदि सोनीपत से मेरा इंटरव्यू आए तो तार द्वारा इत्तला उपर्युक्त पते पर देना। साहित्यिक पत्रों की बातें अपने पत्र में लिख दिया करना। और हापुड़ से इंटरव्यू आए फिर, तो भी तार देना।

जब मेरा Finally Decide हो जाएगा यहाँ का रहना, तब सूचित करूँगा। अभी तो Trial में है। संपादक, जगदीश जी, बेचारे कुछ नहीं कर सकते, असमर्थ। और ऊपर के Officers कितने मूर्ख हैं, उसका अंदाज़ तुम मेरे इंटरव्यू से लगा लोगी। बीबी को प्रणाम। आ गईं या नहीं? मुन्ने व मुंन्नू को प्यार!

सस्नेह तुम्हारा
दुष्यन्त

(11)

6, विष्णु गोपाल होटल
हीवेट रोड
लखनऊ
11.1.55

प्रिय राज,

स्नेह!

इस बीच तुम्हारे तीन पत्र मिले, कोई ऐसी बात तो नहीं थी कि पढ़कर बहुत ख़ुशी होती, परंतु राहत अवश्य हुई।

वैसे यहाँ भी कोई कष्ट नहीं; बड़ा सुखी है जीवन! खाने को पं॰ सुरेंद्र तिवारी का घी, पीने को कैप्सटन की सिगरटें, चाय और बैठने को रेडियो स्टेशन के Ist Class कमरे, सोफ़े।

बात करने को देशी आई हुई हैं, वही देशी जिसकी चर्चा तुम्हारे कानों में पड़ चुकी है। देशी। कमलेश्वर। खूब जमती है। शायद कमलेश्वर, मार्कण्डेय भी आएँगे।

अब आओ काम की बातों पर। मैं सच ही बहुत प्रसन्न हूँ, पर ऐसा कहकर तुम्हारे दुःख को बढ़ाना नहीं चाहता, क्योंकि तुम्हारी तबीयत वहाँ नहीं लग रही होगी। ज़भी तो तुमने बार-बार अपने पत्र में बुलाने का संकेत किया है। शायद तुम्हें

लग रहा होगा कि बेकारी में मेरा फ्रस्टेशन बढ़ रहा है। ये कुछ हद तक सही भी हो तो भी मेरी कविताओं के लिए अच्छा है।

मैं अभी, जब तुम्हारा पत्र मिला, चल देता। चाहे ट्रेन की जगह कोई हवाई जहाज़ क्यों न करना पड़ता। पर तीन बातों ने रोक लिया।

1. गिरजाकुमार माथुर ने मेरे विषय में गंभीर रूप से चर्चा चला रक्खी है, और मुझे एक सज्जन से मिलाया है जो Deputy Director हैं। वहाँ काम होने की 100% संभावना है।

2. माथुर ने ही Information Deptt. में Source लगा रक्खे हैं, वहाँ के Director के सभापतित्व में उन्होंने एक गोष्ठी कराई जिसका मक़सद सिर्फ़ मेरी कविताएँ सुनाना ही था।

3. Shri Niwas, Kitab Mahal ने मुझे बहुत ज़ोर देकर बुलाया है। वह 2-3 महीने तक मुझे Training देकर Calcutta में ब्रांच खोलना चाहते हैं। Training Period में मुझे 100 रुपए देंगे प्रतिमास।

ऐसी अवस्था में आना, तुम अचंभा न समझना—बड़ा कठिन है। फिर Radio पर कवि-सम्मेलन है 16 को, जिसका Contract तुमने भेजा है। आज ही मिला। फिर दो महीने के अंदर-अंदर ही कुछ हो जाना चाहिए, ऐसी मेरी प्रतिज्ञा है, और कोशिश भी।

Radio से रुपए मिलने पर तुम्हारे लिए कुछ ख़रीदने की सोच रहा हूँ। इधर सबसे दिलचस्प बात ये है कि मैं एक Novel 'स्वर्ग में सात दिन' शुरू करने जा रहा हूँ। 80-90 पृष्ठ का होगा। रेडियो के लिए।

और देखो राज! तुम मेरा नाटक 'हाइड्रोफीबिया' तुरंत भेज दो। मैं उसे यहाँ चला दूँगा। जल्दी भेजना। और कोई मेरी रचना पड़ी हो तो उसे भी भेज देना।

'कल्पना' की किताबों की रिव्यू मैं यहीं से पुस्तकें प्राप्त कर लिख लूँगा। भेजने की आवश्यकता नहीं। मार्कण्डेय की नई पुस्तक 'पत्थर और परछाइयाँ' निकल गई है। तुम्हें दी है, प्रति मेरे पास है, एकांकी-संग्रह है, कहो तो भेज दूँ?

कमल जोशी की 'रिव्यू' के विषय में मैंने उनको लिखा था कि वे किसी और से करा लें, पर अब मैं ख़ुद कर दूँगा। राकेश का यदि जल्दी आने का प्रोग्राम हो तो घी उन्हीं के हाथ भिजवा देना। शोक-समाचार ये है कि वीरेंद्र जी Senior Grade पर नहीं जा सके, जूनियर के लिए उन्होंने मना कर दिया था, पर नौकरी जाएगी नहीं।

बीबी को प्रणाम देना। मुन्नू को प्यार। गुड्डी व गुड्डे को स्नेह, चुंबन।

सस्नेह तुम्हारा अपना

दुष्यन्त

P.S.

Rajendra Lall वाली जगह के लिए मैं Apply नहीं कर रहा हूँ, उसके पास ख़बर भिजवा देना। उससे अच्छी जगह यहाँ मिल जाएगी।

दुष्यन्त

मेरा एक कहानी Collections भी वहीं होगा जिसमें मैंने सब नए लेखकों की कहानियाँ एकत्र की थीं और उनकी अनुमति भी। कृपया उसे Registered Parcel से भेज देना। शायद यहाँ छपने की व्यवस्था करा सकूँ।

दुष्यन्त

(12)

173 Roshanbagh
Allahabad
12.8.56

प्रिय भाई राज,

सलाम!

ऐसी भी क्या नाराज़ी है कि हुजूर ने ख़त ही नहीं लिखा? हम तो इस इंतज़ार में रहे कि अब आपने मना कर दिया है कि जब तक मेरा ख़त न आए, ख़त मत डालिएगा, उधर आपके ख़त इधर का रास्ता ही भूल गए। ऐसा तो नहीं कि ख़त हमारी बजाय पोस्टमैन तक ही सीमित हो गए हों।

अच्छा मज़ाक़ ख़त्म···अब ये बताओ कि मेरठ में कब तक रहने का इरादा है? मैं इधर बराबर अनिश्चय की स्थिति में हूँ। कुछ भी नहीं सोच पा रहा कि क्या करूँ? अभी फ़िलहाल किताब महल से एक कहानियों की पत्रिका निकलवाने की योजना है। देखो, अगर सेठ फँस गया तो! बातचीत चल रही है।

इधर और अपना साहित्यिक काम, लिखने-पढ़ने का भी ख़ूब कर रहा हूँ। सोचता हूँ इस Frestation के आलम में जितना कुछ लिख सकूँ, उतना ही अच्छा है।

तुम्हारी स्मृति बराबर बल देती है। कभी-कभी ऊब जाता हूँ तो गाँव की ओर भागने को मन करता है। पर सोचता हूँ कि वहाँ तो तुम भी नहीं, मन क्या लगेगा?

मेरे तुम पर 150 रुपए हैं। अपने दो-तीन बहुत अच्छे Photograph तुरंत खिंचवाना। ख़र्चा मेरा। जो सबसे अच्छा हो उसे मेरे पास भेज देना। भूलना मत···ज़रूर भेज देना। मगर Photo बढ़िया होनी चाहिए। Photographer को घर बुलवाकर दो-तीन Photograph खिंचवाना। जिसका Negative सबसे अच्छा हो उसे Print करा लेना।

Kamleshwar और मार्कण्डेय मज़े में हैं। 'रिसर्च' के नाम पर वक़्त बरबाद कर रहे हैं। कमलेश्वर शायद उधर आएगा, तुमसे मिलेगा, दिल्ली से लौटता हुआ। उसकी ख़ातिर-तवाजह कर देना। और देशी के ख़त का तुमने उत्तर नहीं दिया। वो शिकायत कर रही थीं। ग़लत मत समझना, हमारी और मार्कण्डेय की तो वे बाक़ायदा

धर्मबहन हैं। आजकल बाहर गई हुई हैं। मार्कण्डेय नमस्कार लिखा रहा है।

सस्नेह तुम्हारा
दुष्यन्त

(13)

173 Roshanbagh
Allahabad
22.8.56

Raj Darling,

तुम्हारा पत्र आज मिला। मैं कल बड़ा व्यग्र था, कल ही एक पत्र मेरठ के पते पर डाल चुका हूँ। आशा है Redirect होकर मिला होगा। मैं परेशान हो उठा था। क्योंकि तुम कभी इतनी देर तो नहीं करतीं और सच पूछो तो अब इस Clearification को भी मेरा अविश्वासी मन स्वीकार नहीं करता कि तुमने बच्चों की बीमारी की वजह से पत्रोत्तर नहीं दिया। पत्र न लिखने का एक ही कारण हुआ करता है, वह उस व्यक्ति को भूल जाना। और आश्चर्य नहीं कि तुम मुझे कुछ दिनों के लिए भूल गई हो।

मेरे ऊपर तुम्हारा अविश्वास वाजिब ही है कि मैं कुछ लिखता-पढ़ता नहीं हूँगा, फिलहाल तुम्हारी सूचना के लिए बता रहा हूँ कि इधर मैंने दो उपन्यास Translate किए हैं। उर्दू से एक 'जोरू का गुलाम', जो बंधु जी को समर्पित किया है, दूसरा 'चार सौ बीस'। बहुत शीघ्र छपकर आ जाएँगी दोनों किताबें, भेजूँगा।

एक टाइपिस्ट मैंने 3 घंटे रोज़ाना काम करने के लिए 40 रुपए पर नौकर रक्खा है। शाम को 6 से 9 बजे तक काम जमकर करता हूँ। आजकल एक उर्दू उपन्यास (by शौकत थानवी) का अनुवाद और एक 'अन्ना केरेनिना' अंग्रेज़ी उपन्यास का अनुवाद कर रहा हूँ।

पैसा ख़ूब आ रहा है। पिछले महीने 300-400 की प्राप्ति हुई जिनमें कपड़े वग़ैरह बनवा लिए और एक अँगूठी बनवा ली, फर्स्ट क्लास नग लगवाया है। तुम्हारे लिए एक बैग ख़रीदा वग़ैरह ...इस मास भी अच्छी आमदनी होगी। तुम्हें आवश्यकता पड़े तो लिखना। मशीन ख़रीदकर तो अच्छा ही किया और सुनो, काश्मीर का प्रोग्राम पक्का रहेगा। पैसा जुटाऊँगा कुछ।

गुड्डी को तुम नवादे भेज दो। वहाँ तुम्हारी पढ़ाई में बाधा पड़ेगी। पढ़ ज़रूर लो। इस साल इम्तहान् दे ही दो।

कमलेश्वर और देशी 15-20 दिन से बाहर हैं। कमलेश्वर दिल्ली गया है, देशी कालका। मार्कण्डेय यहीं हैं। मैं बहुत स्वस्थ हूँ। घी की कमी थी सो मैंने देशी को लिखा है कि वे कालका से लौटते हुए मौजपुर पर राजेंद्र लाल स्टेशन मास्टर से मेरा घी लेती आएँ। यदि ला सकीं तो ठीक वरना घर आऊँगा ही।

तुम अपने को ज़रा और स्वस्थ कर लो। हम भी देखेंगे, आपने सहारनपुर में कितनी रबड़ी खाई है। पंजाबी बाज़ार जाते समय मेरा ध्यान रखना, समझीं। सबको नमस्कार।

तुम्हारा भोंदू
दुष्यन्त

(14)

173 Roshanbagh
Allahabad-3
12.9.56

प्रिय राज,

पत्र मिला। पढ़कर अति प्रसन्नता हुई। इधर पिताजी का भी पत्र आया था। उन्होंने लिखा था कि वे सहारनपुर गुड्डी को लिवाने के लिए जाएँगे। मुझे भी बुलाया था क्योंकि न्यायाधीश का Election है और उसमें शायद मेरे वोट की आवश्यकता है। अतः मैं 20 ता॰ तक गाँव पहुँचूँगा। तभी सहारनपुर भी आऊँगा। वैसे तुम्हारा पत्र पाकर मैं तुरंत चला आता पर आज मुझे क्रांति कुमार वकील (बिजनौर) से, जो यहाँ आए हुए थे, पता चला कि बंधु जी भी यहाँ आने वाले हैं। अतः मैं उनके लिए Wait करूँगा और फिर उनके साथ ही लौट आऊँगा।

ये बड़ी आवश्यक बात है कि तुम एक नौकर वहाँ खोज लो। 4 आदमियों से कह रक्खो, कभी न कभी मिल ही जाएगा। न हो तो एक औरत नौकरानी रख लो या कोई लड़की-वड़की हो, उसे रख लो। पर अभी तो ख़ैर तुम Allahabad आ ही रही हो। इसके बाद रखना।

गुड्डी को या तो Nawada भेज दो या यहाँ छोड़ती जाना। अपने पास मत रखो। तुम्हारा इस साल इम्तहान देना और पास होना अत्यंत आवश्यक है। अपने विषय में और क्या लिखूँ…मन उड़कर तुम्हारे पास पहुँचने की इच्छा रखता है। तुमसे तो एक Sweat सा ख़त भी नहीं लिखा जाता। मैंने सोचा है कि अब तुम्हें कभी अप्रसन्न नहीं करूँगा।

सस्नेह तुम्हारा
दुष्यन्त

(15)

भोपाल
8-11-70

डियर,

कई दिनों से पत्र लिखने की खोज में था—खोज पत्र या लिफ़ाफ़े की नहीं, उस मनःस्थिति और उस भाषा की थी, जो मुझे और मेरे भीतर तुम्हें लेकर सोचने वाली

'विचारणा' को अपने सही और वास्तविक स्वरूप में तुम तक पहुँचा दे। मैं तुम्हें सोचता हर वक़्त रहा हूँ—पर टुकड़ों-टुकड़ों में। कभी तुम्हारे स्वभाव की मृदुलता और कमनीयता के बारे में, कभी तुम्हारे देह के मांसल आकर्षण के बारे में, कभी मेरे कारण जो तुम भोग रही हो उन कष्टों के बारे में और कभी तुम्हारी सहनशीलता की सामर्थ्य के बारे में और यह भिन्न पक्षों पर सोचने की प्रक्रिया समयानुसार मेरे भिन्न-भिन्न 'मूड्स' के साथ जुड़ी होती है। तुम कल्पना कर सकती हो कि सबसे अधिक मैं किस विषय में सोचता हूँगा, क्योंकि इतनी बूढ़ी तुम भी नहीं हुई हो। लेकिन इस सारे सोचने को—तुम्हें लेकर उठने वाली इन सारी विचार-ग्रंथियों को तुम तक पहुँचाना—पत्र-रूप में—कितना जटिल, दुष्कर और श्रमसाध्य कार्य है, तुम कल्पना कर सकती हो! इसलिए कविता का माध्यम फिर अपनाना पड़ा और कई कविताएँ लिखीं और फिर यह पत्र भी!

तुम कहती हो 'गंगा गए गंगादास···' और मुझे लगता है कि मैं अपने ख़ालीपन को भरने के लिए जो छोटे-छोटे उद्योगों में अपने को खो देना चाहता हूँ—उसे तुम भी ग़लत समझती हो। तुम पास रहती हो तो यह ख़ालीपन कुछ हद तक भरा रहता है, पर जब तुम नहीं रहती तो कुछ भी नहीं रहता। मैं अपने ही घर में एकदम निर्वासित और निस्सहाय-सा अनुभव करता हूँ। न कोई फरमाइश करता हूँ, न कोई नख़रा। एक अस्तित्वहीन प्राणी की तरह जीता रहता हूँ। और इन संदर्भों में तुम्हारी कमी या अभाव और भीतर उतरता जाता है।

आलोक यहाँ आया था, वह तुम्हें याद भी करता था मगर उसे घर में कोई कमी महसूस नहीं हुई, पर तुष्ट और परिपूर्ण चला गया। मगर मुझे तुम्हारा अभाव हर स्तर पर खलता है। तुमने अपने पत्र में उपन्यास भेजने के लिए लिखा था। पता नहीं, तुम्हें कैसे उसके छपने की ख़बर मिली—शायद 'दिनमान' से। पर मुझे उपन्यास बहुत लेट मिला और जिस दिन प्रतियाँ आईं, उसी दिन पहली प्रति तुम्हारे लिए निकालकर भेज दी। मुझे लगा कि तुम्हारे बिना मेरी कोई भी .ख़ुशी अधूरी है। जब तक तुम Share न करो—'मेरी रचना का सुख भी मुझे पूर्णता नहीं देता। इसीलिए तुम्हें याद होगा कि मैं ज़बरदस्ती तुम्हें पढ़ने के लिए बाध्य किया करता था।

वे सब कार्य—जो तुम्हारी उपस्थिति में निर्विघ्नपूर्ण नहीं होते थे, मसलन आलोक पर अकारण अनावश्यक रूप से पैसा ख़र्च करना या अर्चना पर—तुम्हारी अनुपस्थिति में इसलिए हो जाते हैं कि तुम्हारी परोक्ष उपस्थिति बराबर मेरे भाव-बोध पर छाई रहती है।

इन दिनों मैं तुममय हो गया हूँ—बोलता नहीं हूँ तुम्हारे बारे में, पर सोचता बहुत हूँ और अकसर इसीलिए पीड़ित अधिक होता हूँ। तुम छोड़-छोड़कर वहाँ की नौकरी यहाँ आ जाओ। यदि तुम्हें ऐसा लगता हो कि वहाँ लड़कियों का हर्ज होगा तो जल्दी से जल्दी उनका कोर्स पूरा कराके मुझे टेलीग्राम दो, मैं यहाँ से बीमारी का तार देकर तुम्हें बुला लूँगा। फरवरी बहुत दूर है डीयर और इतना धैर्य अपन में नहीं कि 10 फरवरी तक प्रतीक्षा करते रहें। अगर इस संबंध में तुम्हारा संतोषजनक उत्तर नहीं मिला तो मुझे लगता है, मैं ही बिस्तर बाँधकर वहाँ चला आऊँगा।

यहाँ तनख़्वाह के कुछ रुके हुए रुपए मिले थे। 1300 रुपए तो बीमे के ही भर दिए—फिर नंगे के नंगे। नई Pay Slip भी A.G. से Tribal Welfare Deptt. की दरों पर ही आई है, यह अच्छी बात है। अब Nov. से आगे की आने की प्रतीक्षा है।

धनंजय की एक मोटी-सी आलोचना पुस्तक आई है—'आस्वाद के धरातल'। मेरी कविता, उपन्यास और नाट्य-कला पर तीन लेख उसमें हैं, बढ़िया। तुम मेरे उपन्यास पर बीबी की प्रतिक्रिया भी लेना, उन्हें कैसा अनुभव होता है? कहना, विजीश को भी पढ़ने के लिए दें।

अर्चना पढ़ रही है। छोटे के आने से उसे सहूलियत हो गई। वरना दर्शना अकसर बीमार पड़ जाती है, तो दिक्कत होती है। अभी उसे Dance में एक टिफ़िन का डिब्बा इनाम में मिला। मुन्नू जी का आलस्य कुछ छँटा है। स्कूटर आने से उनकी गतिविधियाँ बढ़ गई हैं। भावनात्मक गतिविधि भी उनकी ज़्यादा प्रबल हो गई है! दर्शना अब ठीक है। गुड्डू जी तुम्हें और अप्पू को बहुत याद करते हैं। दर्शना उनकी चाची जी हैं। लाज की माँ ने पूछा तो फिर अम्मा तेरी कहाँ है? तो बोला, गाँव में—नजीबाबाद। वहाँ अप्पू भैया भी हैं, वह मेरे लिए ताश लाता है। इस बात का ख़याल रखना कि बीवी को पैसे का अभाव न हो, मैं हालाँकि एकदम नंगा हूँ, मगर तुम्हें या उन्हें पैसों की ज़रूरत हो तो लिख देना। पहले सोचा था तनख़्वाह मिलने पर तुम्हें 1000 रुपए भेज दूँगा, पर Insurance में ही बहुत पैसे चले गए, फिर Pay Slip भी अक्टूबर तक ही आई।

अच्छा डार्लिंग, अब एक प्यार, जो बीमारी के कारण चलते वक़्त का Due था—और विदा। उत्तर शीघ्र देना।

तुम्हारा
दुष्यन्त

(16)

भोपाल
18.2.70

डियर,

तुम्हारा पत्र मिला। बड़ी जल्दी याद आई कि पत्र भी लिखना है। 13 को आप पहुँची और लिखने की तकलीफ़ गवारा की 15 को।

बहरहाल अब अपन पर छोटे-मोटे टेंशन प्रभाव नहीं डालते, क्योंकि कविता का Outlet मिल गया है। बक़ौल शानी हर सुबह एक कविता तैयार मिलती है।

इधर एक नई कविता लिखी है—

मेरा कोई इरादा नहीं था
मुझे इतिहास ने धकेलकर
मंच पर खड़ा कर दिया है।

इसमें बड़े व्यापक परिप्रेक्ष्य हैं। यानी अगर मैं साहित्यकार हूँ तो भी परिस्थितियों ने बना दिया है, मेरा कोई इरादा नहीं था और अगर आवारा हो जाऊँ तो भी परिस्थितियों का ही हाथ होगा, मेरा नहीं—नेता हो जाऊँ तो भी—

मैं विषम परिस्थितियों में फँसकर
एक साधारण आदमी की तरह
भीतर से टूट गया,
लेकिन ऊपर से हँसकर
और अर्जित विवेक को सँभालकर
मैंने अपनी सफ़ाई में कुछ कहना चाहा
मुझे शब्दों ने पीड़ा से बड़ा कर दिया है
मेरा कोई इरादा नहीं था।

उपन्यास तैयार हो रहा है और साथ ही कविता-संग्रह भी।

अर्चना पढ़ने में लगी रहती है और मैं लिखने या तुम्हारे साथ काल्पनिक यात्राएँ करने में।

कमरे में बैठे-बैठे तुम्हारा हाथ पकड़ता हूँ और दूर दिखने वाले बिड़ला मंदिर की चोटी तक एक सड़क बन जाती है। तुम्हारे साथ सारे परिदृश्यों की यह सैर बड़ी मोहक होती है।

ज़्यादा रूमानी चिट्ठियाँ लिखते हुए इसलिए डरता हूँ कि इसका प्रभाव कहीं तुम्हें अधीर न कर दे और कहीं तुम भी यात्राएँ शुरू न कर दो।

समरजीत को पत्र समय पर मिल गया था क्या? जस्से का क्या हाल है? मेरा पोस्टकार्ड मिला होगा। अबकी आऊँगा तो उसकी शादी करा देंगे और उससे क्या आशा की जा सकती है?

सविता की पढ़ाई का क्या हाल है? उसे पास होना ज़रूरी है। तुम कॉपियों के गड्डों में से अवकाश निकालकर एक पत्र प्रति सप्ताह के हिसाब से इधर दे दिया करो। आर्थिक कष्ट हो तो लिखना—सहना मत। मेरे पास पैसे हैं। 6 मार्च को 9.30 से 10.30 तक 'एक कंठ विषपायी' रेडियो पर आएगा। मैं एक्टिंग भी करूँगा और लेखन-निर्देशन भी।

यहाँ के Artist बड़े कमज़ोर हैं, मुझे आशा नहीं कि नाटक अच्छा हो सकेगा, लेकिन कोशिश तो करूँगा ही।

तुम्हारा
दुष्यन्त

कमलेश्वर के नाम पत्र

दुष्यन्त कुमार के पाँच अंतरंग पत्र, जिनकी भाषा और 'पन' इस बात का सुबूत है कि वह कितना बड़ा 'यारों का यार' था…

(1)

प्रिय कमलेश्वर,

कल तुम्हारा पत्र मिला। यह तो बड़ी ख़ुशी की बात लिखी तुमने कि राजेंद्र वहीं बस रहा है। यानी अब अगर तुम कभी दिल्ली से बाहर भी हुए तो मुझे तुम्हारे कमरे का ताला नहीं तोड़ना पड़ेगा—मेरे लिए एक दूसरी धर्मशाला का इंतज़ाम हो गया है।

मेरा जनवरी में आना पक्का है। बात यह है (किसी से ज़िक्र मत करना) कि श्री…अपनी लड़की की शादी मेरे छोटे भाई से करना चाह रहे हैं, सो उसका भी कुछ मामला तय करना है। इसलिए राजो भी आएगी।

हाँ—तू प्यारे, अब 'ग्रेट' संपादक हो रहा है और मैं दावे के साथ कह सकता है कि प्रूफ़ रीडर तो तुझसे बढ़िया आज तक हिंदी जगत में पैदा ही नहीं हुआ। कहानीकार की भी तुझमें सारी संभावनाएँ हैं ही, बशर्ते कि तू…श्री…को अपना पैगंबर मानना छोड़ दे। मैं तो सोचकर हैरत में पड़ जाता हूँ, राजेंद्र यादव और राकेश जैसे मित्रों के होते हुए तुझ पर उस जैसे नपुंसक की छाप कैसे पड़ गई!

हाँ यार, मज़ाक़ अलग, धनंजय ने उसकी बड़ी अच्छी सेवा की है और अगर तुम उस लेख को मँगा लो तो एक बड़ा भारी कुहासा छँट जाएगा। वैसे वह भी—बावजूद मेरे समझाने के कि कमलेश्वर इसे कैसे छापेगा—उसे 'नई कहानियाँ' में ही भेजने की सोच रहा था। मगर तुम्हारा नैतिक कर्तव्य है कि तुम उसे तत्काल एक पत्र लिखकर उस परिचर्चा पर उसकी राय माँगो। आख़िर हृषीकेश जैसे आदमियों से भी तुम मँगाते हो।

मेरा दिल्ली आना इसलिए भी ज़रूरी है कि तुझे थोड़ी गुरु-दीक्षा दूँ और जो जाले वग़ैरह तुझ पर चढ़ गए हैं, उन्हें झाड़ दूँ।

तेरा उपन्यास देखने की बड़ी इच्छा है। मेरा तो ख़याल है कि पत्र पाते ही उसे भेज।

राजेंद्र से कहना कि उसके 'किनारे से किनारे तक' की ही समीक्षा की है। मैं भूल से 'छोटे-छोटे ताजमहल' लिख गया था। उसे मैंने विश्व का महान् कहानीकार सिद्ध किया है। हालाँकि अब वह दिल्ली में बस रहा है तो ख़तरा है कि उक्त कथन झूठा न पड़ जाए।

तेरा

दुष्यन्त

16.4.1969

(2)

प्रिय कमलेश्वर,

तुम्हारा पत्र गाँव में मिला था। परेशानियाँ···हाथ धोकर पीछे पड़ गई हैं। नौकरी की परेशानियाँ थीं ही कि वह हरामज़ादा···मेरे पीछे पड़ गया, मुअत्तल किया, इन्क्वायरी कराई और फिर भी जब कुछ न निकला तो अनुशासनहीनता वग़ैरह का चार्ज लगाकर सर्विस टर्मिनेशन का ऑर्डर कर गया। मगर वह आदेश अमल में आया भी नहीं था कि फिर तख़्ता पलटा—अब मैंने तो कुछ कहा नहीं मगर देखो—उधर घर की सारी ज़िम्मेदारियाँ! पिताजी जहाँ बहुत बड़ी संपत्ति छोड़ गए हैं, वहाँ विरासत में 16 मुक़दमे भी मिले हैं।

तो इस चुतियापे में चकरघिन्नी खाते-खाते मैंने देखा कि मैं बिलकुल निःसहाय और अकेला हूँ। सिवाय अपने कुव्वते-बाज़ू के न कोई दोस्त है, न···दोस्त तो तेरे बाद कोई साला बनाया ही नहीं···तीन महीने वहाँ के काम निपटाकर कल फिर भोपाल आया, तुम्हारा ख़त वहाँ से चलते-चलते मिला। रास्ते में कार अलीगढ़ के पास ख़राब हो गई तो एक दिन वहाँ बर्बाद हुआ। वरना फौरन तुम्हें लिखता···लिखता क्या कि तुम्हारा ख़त पाकर राहत मिली···कुछ अकेलापन कम हुआ···यह जो एक अहसास रहा है कि एक दोस्त है, वह साला हज़ारों मील दूर ही सही—मेरी पीड़ा और परेशानी का सहयोगी तो है···इससे थोड़ी ताक़त भी कहीं न कहीं मिलती है।

हाँ, इन परेशानियों से बचने के लिए एक उपन्यास में डूब गया था। वह लिख लिया है। तुम फौरन राजेंद्र को पत्र लिखकर उसे मँगवा लो। अभी दिल्ली में उसे पढ़ने के लिए दे आया था। वह उसे 'अक्षर' के लिए चाहता है और मैं हरगिज़ 'अक्षर' को नहीं दूँगा। मैंने ओमप्रकाश को कह दिया है—उसे लिख रहा हूँ कि वह तुम्हें पांडुलिपि भेज दे। देखकर अपनी राय-सुझाव देना। कुछ ठीक-ठाक भी कर देना।

अधिकारी जी आ गए हों तो उनसे कहना कि वे भोपाल रुककर भी घर नहीं आए, इस बात पर लड़ाई होगी।

तेरा

दुष्यन्त

(3)

प्रिय कमलेश्वर,

एक नई ग़ज़ल तुम्हें पढ़ने के लिए भेज रहा हूँ। तुमने तारीफ़ करके दिमाग़ ख़राब कर दिया। हर तरफ़ अब ग़ज़ल ही सूझती है। 'मैं सुन रहा हूँ हरेक सिम्त से ग़ज़ल लोगे।'

इस ग़ज़ल को, पुरानी ग़ज़ल के साथ मैंने 'धर्मयुग' को भेजा है। 'सारिका' में छापोगे तो यार, लोग कहेंगे—यारी निभा रहा है।

एक काम करना। इस ग़ज़ल के मतले में मैंने संशोधन किया है—पहली पंक्ति में 'ये रोशनी की कहानी है सिर्फ़ छल लोगो' के स्थान पर 'बिसाले यार की बातें हैं सिर्फ़ छल लोगो' कर दिया है। शायद इस बात में ज़्यादा व्यंजना है और झील में पड़ती हुई महल की परछाईं की बायबीयता से यह बात ज़्यादा मेल खाती है। भारती जी से मिलकर इसे ठीक करा देना—याद से।

और तुम 21 को आ रहे हो या 28 को, पक्का लिखना।

उज्जैन की ख़ूबसूरत यादों में।

तेरा
दुष्यन्त

(4)

प्रिय कमलेश्वर,

'साये में धूप' नाम से ग़ज़लें छपकर आ गई हैं। परसों मैं दिल्ली था—वहीं मनोज कुमार से भेंट हुई। तुम्हारी प्रति मैंने मनोज को दे दी है, आशा है मिल गई होगी। सारी ग़ज़लों को पढ़कर अपनी राय लिखना और ये भी कि कौन-सी ग़ज़ल तुम्हें ज़्यादा पसंद आई और कौन-सी कमज़ोर गई।

4 अगस्त को उज्जैन में एक फंक्शन इस किताब को लेकर विट्ठल भाई कर रहे हैं—दिल्ली से रमेश जी (टाइम्स ऑफ इंडिया) और शायद मनोहर श्याम जोशी आएँगे—अगर तुम भी आ जाओ तो मज़ा आ जाएगा। उस दिन रविवार है!

पत्र लिखना।

तुम्हारा
दुष्यन्त

(5)

प्रिय कमलेश्वर,

ख़त मिला। तुम्हें तो हर हालत में आना ही है। मैंने उज्जैन में कह दिया

है कि वे लोग निमंत्रण-पत्र में तुम्हारा नाम दे सकते हैं। कोई ज़रूरी है कि मुझसे संबंधित जो भी महत्त्व के काम हों, उनमें तुम कभी शरीक न हो? इस मौके पर नहीं आओगे तो क्या मेरी मौत पर आओगे?

अब तारीख़ 4 की बजाय 3 कर दी गई है—शनिवार का दिन है। छुट्टी रहेगी।

तू आ तो जा यार! हर बात में घटियापन मत किया कर वरना मैं बंबई आकर तेरी खाल खींच लूँगा।

तेरा

दुष्यन्त

नोट : और मनोज को फ़ोन करके अपनी किताब मँगा ले, 'साये में धूप'। वह तेरी कॉपी खुद माँगकर ले गया था।

उर्दू शायर सलीम अश्क के नाम एक पत्र का अंश

प्रिय श्री सलीम,

आपका बहुत अच्छा-सा ख़त मिला। इतने सारे प्रशंसा-पत्रों के बीच आपका ख़त ठीक ढंग से सोचने वाले अदीब का ख़त है। इस बात से मैं आपकी सहमत हूँ कि पिछली ग़ज़लों के मिजाज़ से इन ग़ज़लों का मिजाज़ थोड़ा हटा हुआ है। ज़्यादा सही बात यह है कि उस मिजाज़ की ग़ज़लें अब कोई छापता नहीं।

वो बात कहाँ है अब यारो मुझे बतलाओ,
जो बात को सीधे से कह दो औ' निकल जाओ।

पर यह बात आपकी सरासर ग़लत है कि ग़ज़लों में छंद-दोष है—उनकी बहर टूटती है—या मिसरे अनबैलेंस्ड हैं। लेकिन उर्दू के हिसाब से हैं भी···जैसे—

'पहले मेरे और उनके बीच ये परदा न था।' इसे उर्दू वाले यों पढ़ेंगे 'पहले मेरे औ' उनके' जबकि हिंदी वाले पढ़ेंगे 'पहले मेरे और उनके'। दूसरी ग़ज़ल में 'है' को रदीफ़ मानकर चलिए तो सब ठीक है।

वैसे ग़ज़लें मैं इन बंदिशों के पालन के लिए नहीं कहता। अपनी बात और अपनी तकलीफ़ को ज़्यादा से ज़्यादा लोगों तक पहुँचाने के लिए कहता हूँ···फिर भी संपादक लोग गड़बड़ी कर ही देते हैं···उस ग़ज़ल का एक शे'र छूट गया—

यूँ तो चिल्लाया है अकसर आदमी तकलीफ़ में
इतनी ख़ामोशी से लेकिन आज तक चीख़ा न था।

उर्दू के हिसाब से मैं अपनी ग़लतियों से परिचित हूँ। उर्दू में छपा तो ये कमियाँ निकाल दूँगा। जैसे एक ग़ज़ल है—

जिस बात का खतरा था
सोचो कि वो कल होगी
ज़रखेज़ ज़मीनों में
बीमार फसल होगी।

—उर्दू में शब्द फस्ल है। लेकिन मैं हिंदी में चाहकर भी न फस्ल लिख सकता हूँ, न अस्ल।

फिर भी आपके स्नेह-सुझाव और इस्लाह के लिए आभारी हूँ। कभी आएँ तो मिलें ज़रूर।

आपका

दुष्यन्त

(सलीम अश्क, ग्वालियर के सौजन्य से)

दुष्यन्त कुमार का पत्र देवीदास शर्मा के नाम

देवीदास शर्मा ने एक पत्र 'एक कंठ विषपायी' के संदर्भ में दुष्यन्त कुमार को लिखा था–देवीदास शर्मा इस काव्य-नाटक पर शोध-कार्य कर रहे हैं। यहाँ प्रस्तुत है दुष्यन्त कुमार का उत्तर :

भाषा-विभाग, भोपाल
16.12.75

प्रियवर,

आपका पत्र, दिनांक 10-12 धन्यवाद।

बहुत संक्षिप्त उत्तर दे रहा हूँ जबकि आपका पत्र विस्तृत उत्तर की अपेक्षा रखता है। अतः 'एक कंठ विषपायी' पौराणिक आख्यान पर आधारित होते हुए भी अपनी एप्रोच में आधुनिक है। उसमें कई प्रश्न एक साथ उठाए गए हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक पद्धति की शिथिलता··शासन या सत्ता की व्यक्तिगत सनक या लिप्सा के कारण युद्ध··युद्ध का औचित्य और उससे घुटता-टूटता हुआ सामान्य आदमी जिसका प्रतीक सर्वहत है। लेकिन उसकी मूल संवेदना यह है कि परंपरा से जुड़ा हुआ व्यक्ति या समाज··उस परंपरा के टूटने को या जोड़े जाने को सहज स्वीकार नहीं करता। वह या तो विक्षुब्ध और कुपित हो उठता है या स्वयं टूटता है–पहले अंक में राजकुमार और चिड़िया का प्रसंग··या दक्ष का सती के प्रसंग में क्षोभ एक उसी ओर संकेत है। सती एक परंपरा का प्रतीक है। उसके मरने पर शंकर उसके शव को (परंपरा के शव को) ढोते हैं और युद्ध छेड़ने को उद्यत हो जाते हैं··परंतु ब्रह्मा युद्ध के मूल कारणों में जाते हैं और एक प्रणाम-बाण से यहाँ उस शव को काट फेंकते हैं, जो शंकर के कंधों पर पड़ा था–जहाँ उस शव के टुकड़े गिरते हैं, वहाँ तीर्थ-स्थान स्थापित होते हैं। यह वास्तविक कथा भी है (शिव महापुराण में)। इसके द्वारा यह संकेतित किया गया है कि कोई भी नई परंपरा पुरानी परंपरा की पीठिका पर ही जन्म लेती है। नए मूल्यों को परंपरा का खाद लगता है। साथ ही यह भी कि पुराने लोग नए लोगों का, पुरानी पीढ़ी नई पीढ़ी का और नए मूल्यों का विरोध करती है, यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। परंपरा से जुड़ा हुआ हर व्यक्ति परंपरा के टूटने पर क्षुब्ध ही नहीं होता, ख़ुद भी टूट जाता है (सर्वहत मर जाता है), किंतु जो महान् व्यक्तित्व होते हैं, वे परंपरा से कटकर नए मूल्यों को अंगीकार कर लेते हैं। शंकर ने जिस प्रकार थोड़े ही समय में नई स्थितियों को स्वीकार

किया··इसलिए उन्हें 'एक कंठ विषपायी' कहा गया है। पहले भी सिंधु-मंथन के समय शंकर ने विष पिया था, फिर परंपरा के टूटने का विष भी उन्हें ही पीना पड़ा। यही तो शंकर ने दूसरे अंक में कहा है—'हर परंपरा के मरने का विषय मुझे मिला··हर सूत्रपात का श्रेय···' बाकी आप अपने प्रोफ़ेसर साहब से पूछिएगा और उन्हें सलाम दीजिएगा। वे मेरे पुराने मित्र हैं।

भवदीय
दुष्यन्त कुमार
(देवीदास शर्मा, अमृतसर के सौजन्य से)

एक पत्र सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नाम

अगस्त, 1975

प्रिय सर्वेश्वर भाई,

आदाब!

मैंने अरसे से आपको ख़त ही नहीं लिखा। हाँ, कश्मीर से लौटकर एक कविता ज़रूर लिखी थी 'सर्वेश्वरदयाल सक्सेना के नाम' जो 'धर्मयुग' 7 जुलाई में छप रही थी पर वह अंक ही नहीं आया। अब भारती कहते हैं, 'वह छप नहीं सकती, कहीं और छपाना चाहो तो मैं वापस कर दूँगा, पर सोच लो⋯'

इस बीच बहुत सारी ग़ज़लें कही हैं पर वे भी दराज़ में भरता जा रहा हूँ। कुछ एब्सट्रैक्ट किस्म की होती जा रही हैं। ग़ज़लें भी—क्योंकि⋯

आज हालात समन्दर की तरह लगते हैं।
सारे मंज़र पसे मंज़र की तरह लगते हैं।।

किसके कदमों के निशानात हैं इन राहों में।
जो मेरे पाँवों में ठोकर की तरह लगते हैं।।

जान पहचान है रिश्ते नहीं बाकी घर में।
घर किराये पे लिए घर की तरह लगते हैं।।

आपसे तय था कि ग़ज़लों की किताब पर आप लिखेंगे। वैसे इन हालात में किताब पर बहुत बेबाकी से तो चर्चा नहीं हो सकती, पर इसलिए चर्चा भी न हो, यह भी तो कोई बात नहीं।

दुष्यन्त

पत्र 'इंगित' संपादक मुंबई के नाम[1]

75/21, साउथ टी॰टी॰ नगर
भोपाल
7.10.65

प्रिय बंधु,

चिट्ठी मिली थी। मैं उत्तर भी नहीं दे पाया। देख रहे हो, आजकल कहीं भी लिखना-पढ़ना नहीं हो रहा। एक दोस्त नाराज़ है। कारण ये है कि ज़ेहनी तौर पर मैं बड़ी कशमकश में हूँ। देखो, कब निजात मिलती है। बहरहाल, मैं जल्दी ही इंगित के लिए Regularly कुछ लिखना शुरू करूँगा और इसके लिए मुझे याद नहीं दिलाना पड़ेगा।

इधर यहाँ के 'दैनिक भास्कर' के उपसंपादक श्री देवेन्द्र खरे मिले थे। 'इंगित' से बड़े प्रभावित थे और उसके संवाददाता होने की चाह रखते थे। मैंने बताया कि···ये तो साँझे की खेती है। एक उद्देश्य के लिए कार्य कर रहे हैं। मिलजुलकर अगर तुम भी इसमें शामिल होना चाहो तो मैं दयाव्रत जी से बात कर सकता हूँ। वे सहमत हुए।

अगर इस तरह से उनकी ऑनरेरी संवाददाता के रूप में नियुक्ति हो सके तो मैं समझता हूँ कि यहाँ के लोगों का Interest बढ़ेगा ही। इन पर विचार करके लिखना।

कमलेश्वर को मैं पत्र नहीं लिख पाया। अपनी परेशानी, जो एकदम घरेलू-सी है, लिखकर उसे परेशान नहीं करना चाहता।

रमेश बक्षी यहाँ 21 को आ रहा है। कमलेश्वर को बता दीजिएगा। मैं शीघ्र कुछ भेजूँगा। 'इंगित' जमकर निकल रहा है। यहाँ चर्चा है।

सस्नेह
दुष्यन्त

---

1. देवेन्द्र खरे के सौजन्य से प्राप्त इस पत्र को 'सारिका' संपादक कमलेश्वर ने दुष्यन्त कुमार स्मृति अंक मई, 1976 में छापा, जिस पर एक रेखांकन भी है। वहीं से साभार।

□□

विजय बहादुर सिंह

समकालीन हिंदी आलोचना के लिए सुपरिचित किंतु कुछ अपने ही ढंग की अलग कविता लिखने के कारण कवि के रूप में लगभग अज्ञात विजय बहादुर सिंह के साहित्यिक व्यक्तित्व की एक और पहचान आधुनिक हिंदी कविता के कई जाने-माने और अति प्रतिष्ठित कवियों के काव्य के संपादन की भी रही है। उनकी अब तक की संपादित काव्यकृतियाँ हैं : *लोकप्रिय कवि भवानीप्रसाद मिश्र, जनकवि* (केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, त्रिलोचन, शमशेर और मुक्तिबोध), *ये कोहरे मेरे हैं* (भवानीप्रसाद मिश्र की प्रेम कविताएँ)। शंकर गुहा नियोगी की बँगला और अंग्रेज़ी कविताओं का अनुवाद और नियोगी के संघर्ष और काव्य पर प्रकाशित *संघर्ष और निर्माण* महाग्रंथ के सातवें खंड (काव्य) का संपादन और भूमिका-लेखन।

समकालीनों की नज़र में आचार्य रामचंद्र शुक्ल और विख्यात समाजविज्ञानी भारतीय चिंतक धर्मपाल की चर्चित लेखमाला *अंग्रेज़ों से पहले का भारत* के संपादक के रूप में विजय बहादुर सिंह एक जाना-पहचाना नाम है। उन्होंने *नागार्जुन संवाद* जैसी बहुचर्चित और बहुपठित कृति में अपना रचना-कौशल प्रदर्शित और प्रमाणित भी किया है। उनकी ठेठ समीक्षात्मक कृतियाँ हैं : *प्रसाद, निराला और पंत* (वृहत्त्रयी), *नागार्जुन का रचना-संसार, पाश्चात्य काव्यशास्त्र, कविता और संवेदना*। *मौसम की चिट्ठी, पृथ्वी का प्रेमगीत* (शलभ श्रीराम सिंह और नरेंद्र जैन के साथ), *पतझर की बाँसुरी, शब्द जिन्हें भूल गई भाषा* और *भीम बैठका* उनकी काव्यकृतियाँ हैं।

नया विकल्प और *नया पथ* जैसी साहित्यिक पत्रिकाओं के संपादक के रूप में सुपरिचित रहे विजय बहादुर सिंह धुर वामपंथी और धुर गांधीवादी समूहों में संदेह और आदर के समान अधिकारी और पात्र रहते रहे हैं।

कोलकाता जैसे महानगरों और सागर, उज्जैन, विदिशा और भोपाल जैसे शहरों-नगरों को अपना बहुलांश देकर भी विजय बहादुर सिंह किसानी संस्कार के बुद्धिजीवी और लेखक हैं।

संपर्क : 29, निरालानगर, दुष्यन्त मार्ग, भोपाल-462003

पक गई हैं आदतें बातों से सर होगी नहीं ।
कोई हंगामा करो, ऐसे गुज़र होगी नहीं ।।

देह को लाओ अलावों के क़रीब
इस ठिठुरती ...
धूप अब घर की किसी दीवार पर होगी नहीं ।

बूँद टपकी थी मगर वो बूँदे-बारिश और है
ऐसी बारिश की कभी उनको ख़बर होगी नहीं ।

आज मेरा साथ दो वैसे मुझे मालूम है
पत्थरों में चीख़ हरगिज़ कारगर होगी नहीं ।

आपके टुकड़ों के टुकड़े कर दिए जाएँगे पर
आपकी ताज़ीम में कोई कसर होगी नहीं ।

सिर्फ़ शायर देखता है क़हक़हों की असलियत
हर किसी के पास तो ऐसी नज़र होगी नहीं ।

किताबघर प्रकाशन